संस्तवनम्

मुनिश्री प्रणम्यसागर जी

संस्तवनम्

मुनिश्री प्रणम्यसागरजी

कृति	:	संस्तवनम्
आशीर्वाद	:	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज
कृतिकार	:	मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज
संयोजन	:	ब्र. संजय भैया जी मुरैना
पावन प्रसंग	:	वर्षायोग 2015 मंदसौर
संस्करण	:	प्रथम 2015
आवृत्ति	:	1100
व्यवस्था राशि	:	25/-
प्राप्ति स्थान	:	अर्हत विद्या प्रकाशन गोटेगांव (म.प्र.) मो. : 09425837476
मुद्रक	:	विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स 45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल फोन : 0755-2601952 मो.: 09425005624

आद्य कथ्य

इस कृति में कुछ पूर्वाचार्यों के स्तोत्रों का समायोजन है। इन स्तोत्रों का अन्वयार्थ, अर्थ, विशेषार्थ के साथ उपलब्ध नहीं होता था। इस कारण से पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने इस कमी को पूर्ण करके स्तुति पाठकों को अपूर्व लाभ प्रदान किया है। इसमें प्रथम स्तोत्र अद्याष्टक स्तोत्र है। इसके लेखक अज्ञात हैं। दूसरा स्तोत्र चतुर्विंशति-तीर्थङ्कर-स्तुति है जो आचार्य माघनन्दी आचार्य द्वारा विरचित है। जिसकी मूल प्रति संस्कार सागर पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। तीसरा स्तोत्र संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः? है। यह स्तोत्र आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा विरचित है। जिसका अन्वयार्थ एवं अनुवाद उपलब्ध नहीं था जिसे मुनिश्री ने पूर्ण किया। चतुर्थ स्तोत्र पात्रकेसरी स्तोत्र है। जिसका पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, अर्थ, विशेषार्थ के साथ मुनिश्री के द्वारा किया गया है जो इस कृति में समायोजित है। इस स्तोत्र का दूसरा नाम 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' भी है। समन्तभद्र के स्तोत्रों के समान यह स्तोत्र भी न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है। भ्रमवश कतिपय आलोचकों ने विद्यानन्द और पात्रकेसरी को एक व्यक्ति समझ लिया था, अतः पात्रकेसरीस्तोत्र विद्यानन्द के नाम से प्रकाशित है। परन्तु आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने 'स्वामी विद्यानन्द और पात्रकेसरी' शीर्षक प्रबन्ध में सप्रमाण उक्त मान्यता का खण्डन किया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में पात्रकेसरी नाम के आचार्य का उल्लेख किया है। यह आचार्य अकलंकदेव से पहले के थे। इनका समय विक्रम की छटी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

मुनिश्री का यह अनूठा कार्य सभी पाठकगणों के लिए भगवान् श्रीजिनेन्द्र देव की स्तुति करने में एवं श्री जिनवाणी की श्रीवृद्धि में अनुपम योगदान है। आचार्यश्री 108 विद्यासागर जी महाराज एवं उनके प्रिय शिष्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज के पावन चरणों में कोटिशः नमन......

ब्र. संजय, मुरैना

अद्याष्टकस्तोत्रम्

चतुर्विंशति-तीर्थङ्कर-स्तुति

संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः?

पात्रकेसरी स्तोत्रम्

अद्याष्टकस्तोत्रम्

अद्य मे सफलं जन्म, नेत्रे च सफले मम।
त्वामद्राक्षं यतो देव, हेतुमक्षयसंपदः ॥1॥

अन्वयार्थ : [यतः] चूँकि [देव] हे देव! [त्वां] आपको [अद्राक्षं] देखा हूँ [मे] मेरा [जन्म] जन्म [सफलं] सफल हुआ है [च] और [मम नेत्रे] मेरे दोनों नेत्र [सफले] सफल हुए हैं आप [अक्षयसंपदः] अक्षय संपत्ति के [हेतुः] हेतु हैं।

अर्थ : यह अद्याष्टक स्तोत्र यद्यपि बहुत सरल है किन्तु इसके भाव बहुत गंभीर हैं। जब हमने पहली बार इसे पढ़ाया तो मुझे इसमें एक बहुत बड़ा विज्ञान दिखा। आत्मोन्नति का अद्भुत भाव इसमें है। वस्तुतः भगवान के दर्शन तो सभी करते हैं। प्रत्येक जैन श्रावक, श्रमण आदि सभी भगवान का दर्शन, वंदन करते हैं किन्तु उस दर्शन में मन में कैसे भाव हों, यह इस स्तोत्र में समाहित है। अक्सर प्रतिदिन दर्शन करने वाले या तो परम्परा वश दर्शन करते हैं या किसी के दवाब वश या अभ्यास वश। कैसे भी हो। प्रतिदिन का दर्शन एक नया दर्शन होना चाहिए। रोज वही भगवान वही मंदिर होते हुए भी प्रतिदिन ऐसा लगना चाहिए कि हे भगवन्! मैंने आपका दर्शन आज ही किया है। इसलिए इस स्तोत्र का नाम अद्याष्टक सार्थक है। अद्य-आज। अष्टक-आठ छन्द।

हे भगवन्! आज मेरा जन्म सफल हुआ, मेरे दोनों नेत्र सफल हुए। हे देव! आज मैंने आपको देखा। आप तो अक्षय संपदा के कारण हैं। मुझे इस जन्म में पहली बार आज ही आपका दर्शन हुआ है। मनुष्य जन्म पाकर भी बिना नेत्र के कैसे आपके दर्शन का आनन्द उठा पाता। आज मेरे नेत्र सफल हो गए। हे भगवन्! इससे बढ़कर अक्षय संपदा और क्या होगी? मोक्ष सुख की अक्षय-अविनश्वर-स्थायी संपदा के कारण तो मात्र आप ही

हैं। आपका दर्शन ही है। हे भव्यात्मन्! रोज भगवान के दर्शन करो किन्तु प्रतिदिन दर्शन ऐसे भावों से करना जैसे कि आज पहली बार ही देखा हो।

अद्य संसारगंभीर- पारावारः सुदुस्तरः।
सुतरोऽयं क्षणेनैव, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥2॥

अन्वयार्थ : [अद्य] आज [अयं] यह [सुदुस्तरः] अति कठिन [संसार गंभीरपारावारः] संसार का गहरा समुद्र [क्षणेन एव] क्षण मात्र में ही [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [सुतरः] तैर लिया है।

अर्थ : संसार एक समुद्र के समान अति अगाध है। जैसे समुद्र में कोई थाह नहीं होती उसी प्रकार इस संसार का काल अनन्त है। उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। चार गतियों की 84 लाख योनियाँ तो गिनती की हैं किन्तु इनमें रहने का काल अनन्त है। आज तक संसार सागर में गोते खाते हुए किनारा नहीं पाया है। आपके दर्शन से वह किनारा मुझे मिल गया है। चूँकि आप संसार सागर के पार उतर गए इसलिए मुझे भी विश्वास हो रहा है कि हे भगवन! आपको पा के में भी संसार सागर से तर गया। मैं आज धन्य हो गया।

अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमले कृते।
स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु, जिनेन्द्र तव दर्शननात्॥3॥

अन्वयार्थ : [अद्य] आज [मे] मेरा [गात्रं] शरीर [क्षालितं] प्रक्षालित हो गया [च] और [नेत्रे] दोनों नेत्र [विमले कृते] निर्मल हुए हैं [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र [तव] आपके [दर्शनात्]

दर्शन से [धर्मतीर्थेषु] धर्म तीर्थों में [अहं] मैं [स्नातः] स्नान कर लिया हूँ।

अर्थ : हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन से मैंने धर्म तीर्थों में स्नान कर लिया है। धर्म के दश गुण ही धर्म के दश तीर्थ हैं। उत्तम क्षमा आदि दश धर्म के तीर्थों में मेरा स्नान हो गया। मुझे आत्मा के प्रत्येक धर्म की अनुभूति हुई। मैं क्रोध रहित क्षमा स्वभावी आत्मा हूँ। मेरा आत्मा मार्दव धर्म से ओत-प्रोत है। मेरा आत्मा अति सरल है। मेरी आत्मा का धर्म उत्तम शौच है। सत्य तो केवल एक आत्म तत्त्व ही है। आपके दर्शन से ही मुझे संयम, तप, त्याग की प्राप्ति हुई है। आपके दर्शन से मैं आत्मा मात्र हूँ, ऐसी अकिंचन धर्म की अनुभूति कर रहा हूँ। आपके आत्म तत्त्व रूप परम ब्रह्म को देखकर मैं अपने परम ब्रह्म में लीन हो रहा हूँ, इस तरह दश धर्मों के तीर्थ में नहाकर मेरा शरीर आज शुद्ध हो गया है। मेरे दोनों नेत्र आपके दर्शन से प्राप्त सुख से आनन्दाश्रु बहाकर निर्मल हो गए हैं। यही भव्यत्मा की शुद्ध शक्ति है, यही आत्मिक शान्ति है। Pure Potentiality is our intrinsic nature.

अद्य मे सफलं जन्म, प्रशस्तं सर्वमङ्गलम्।
संसारार्णवतीर्णोऽहं, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥4॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अहं] मैं [संसारार्णवतीर्णः] संसारसागर से तर गया हूँ [अद्य] आज [मे] मेरा [जन्म] जन्म [सफलं] सफल हुआ [प्रशस्तं] प्रशस्त हुआ [सर्वमङ्गलम्] सर्वमंगल हुआ।

अर्थ : इतना प्रबल विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि हे भगवन्! मैं अब संसार सागर में गोते नहीं खाऊँगा। मैं तिर गया हूँ। आपके

दर्शन से जो मेरा पूरा शरीर आनन्दित है उससे मेरा जन्म सफल हुआ प्रतिभासित होता है। मेरा जन्म मंगलमय हो गया। मुझे सभी मंगलों की प्राप्ति हो गई। अब मेरा कोई ग्रह, कोई नक्षत्र अमंगल नहीं कर सकता है।

अद्य कर्माष्टकज्वालं, विधूतं सकषायकम्।
दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥5॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अद्य] आज [कर्माष्टकज्वालं] आठ कर्मों की ज्वाला [सकषायकं] जो कषाय के साथ जल रहीथी [विधूतं] बुझ गई है [अहं] मैं [दुर्गतेः] दुर्गति से [विनिवृत्तः] बच गया हूँ।

अर्थ : आपके तीर्थ जल में स्नान करने से न केवल मेरा बाहरी शरीर ही शुद्ध हुआ है किन्तु मेरी आत्मा में कषाय सहित जो आठ कर्म की अग्नि लगी हुई है वह बुझ गई है। कषाय सहित कर्माग्नि के शांत हो जाने से मेरा आत्म स्वरूप अनुभव में आ रहा है। आज मैं आपके दर्शन से सभी दुर्गतियों में जाने से बच गया हूँ।

अद्य सौम्या ग्रहाः सर्वे, शुभाश्चैकादशस्थिताः।
नष्टानि विघ्नजालानि, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥6॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [विघ्नजालानि] विघ्नजाल [नष्टानि] नष्ट हो गए हैं [सर्वे] सभी [ग्रहाः] ग्रह [सौम्याः] सौम्य हो गए हैं [च] और [एकादशस्थिताः] ग्यारहवें भाव में स्थित हो गए हैं।

अर्थ : भगवान् के दर्शन से सभी ग्रह सौम्य हो जाते हैं। अशुभ ग्रह

भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं। सभी शुभ ग्रह मिलकर ग्यारहवें भाव में स्थित हो जाते हैं तो आय का स्रोत अच्छा बनता है। सभी प्रकार की समृद्धि की आय भगवान के दर्शन से होती है। यह भगवान के दर्शन का अदृश्य फल है। हे जिनेन्द्र भगवन्! आपके दर्शन से मेरे सभी अन्तराय कर्म रूपी विघ्न जाल नष्ट हो गए हैं। सबसे बड़ा अन्तराय तो मिथ्यात्व कर्म है जो आपके दर्शन से नष्ट हो गया है । सबसे बड़ा लाभ तो आपके दर्शन का लाभ है, वह मुझे प्राप्त हुआ। अपने अनिश्चित भविष्य के लिए भगवान की भक्ति एक मानसिक खुराक है। Prayer is our Mental diet for the indefinite future.

अद्य नष्टो महाबन्धः, कर्मणां दुःखदायकः।
सुखसङ्गंसमापन्नो, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥7॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अद्य] आज [कर्मणां] कर्मों का [दुःखदायकः] दुःखदयायक [महाबन्धः] महान बन्ध [नष्टः] नष्ट हुआ है [सुखसंङ्गं] सुख के समागम को [समापन्नः] मैं प्राप्त हुआ हूँ।

अर्थ : हे भव्यात्मन्! भगवान के दर्शन से जो वर्तमान में दर्शन करते समय इस तरह आनन्दित होता है। उसके दुःख विनष्ट हो जाते हैं। दुःख सुख प्राप्ति से दूरहो जाएगा सो सुख की अनुभूति यदि वास्तविक रूप से भगवान के दर्शन में की जाए तो दुःख की अनुभूति कदापि होना संभव नहीं है। वह विश्वास और आस्था ही इस सुख की आधारभूमि है।

अद्य कर्माष्टकं नष्टं ,दुःखोत्पादनकारकम्।
सुखाम्भोधिनिमग्नोऽहं, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥8॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अद्य] आज [कर्माष्टकं] आठों कर्म [नष्टं] नष्ट हुए हैं [दुःखोत्पादन-कारकम्] जो दुःख उत्पत्ति के कारण थे [अहं] मैं [सुखाम्भोधिनिमग्नः] सुख समुद्र में निमग्न हुआ हूँ।

अर्थ : हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन से आज मुझे दुःख देने वाले आठों कर्म विनष्ट हो गए हैं। मैं सब तरह से सुख समुद्र में निमग्न हूँ। वास्तव में जीवात्मा जैसी अनुभूति करता है वैसी ही उसे प्राप्त होती है। यदि कोई दुःखी रहता है तो वह आगे भी दुःख ही पाएगा। यदि कोई सुखी अनुभव करता है तो वह आगे भी सुख पाएगा। भगवान के दर्शन से जो सुखानुभूति होती है वह चिरकाल स्थायी होती है। इसलिए भगवान के समक्ष उनके दर्शन से आनन्दित होने की प्रेरणा एक बहुत बड़ा रसायन है जो हमारे भावों में परिवर्तन के साथ कर्मोदय में भी परिवर्तन लाता है, जिससे हमें एक सुखद अनुभूति होती है। सुख के बीज भगवान की भक्ति से ही बोये जाते हैं। If we want to create happiness in our lives, we must learn to sow the seeds of happiness. अर्थात् यदि हम अपने जीवन में प्रसन्नता सदा बनाए रखना चाहते हैं तो हमें सुख के बीज बोना सीखना चाहिए।

अद्य मिथ्यान्धकारस्य, हन्ता ज्ञानदिवाकरः।
उदितो मच्छरीरेऽस्मिन्, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥9॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अद्य] आज [मिथ्यान्धकारस्य] मिथ्या अन्धकार का [हन्ता] नाशक [ज्ञानदिवाकरः] ज्ञानसूर्य [अस्मिन्] इस [मच्छरीरे] मेरे शरीर में [उदितः] उदित हुआ है।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! आज मुझे ऐसा अनुभूत हो रहा है कि आपके दर्शन से ही मेरे इस शरीर में सभी प्रकार की मिथ्या मान्यताओं, भ्रमणाओं वासनाओं का अंधकार नष्ट होकर सम्यग्ज्ञान सूर्य उदित हुआ है।

'मम स्वरूप है आप समान' यह मुझे प्रतिभासित हो रहा है। मेरा स्वरूप भी आप की तरह केवलज्ञानमय है। मैं ज्योतिर्मय हूँ। मैं ज्ञानसूर्य से आलोकित हूँ। समस्त चराचर विश्व का मैं ज्ञायक स्वभावी आत्मा अपने को अनुभव कर रहा हूँ। मैं मात्र ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान स्वरूप हूँ और कुछ नहीं।

अद्याहं सुकृतीभूतो, निर्धूतशेषकल्मषः।
भुवनत्रयपूज्योऽहं, जिनेन्द्र तव दर्शनात्॥10॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र] हे जिनेन्द्र! [तव] आपके [दर्शनात्] दर्शन से [अद्य] आज मैं [सुकृतीभूतः] श्रेष्ठ पुण्यवान् हो गया हूँ [निर्धूताशेषकल्मषः] मेरे समस्त कल्मष धुल गए हैं [अहं] मैं [भुवनत्रयपूज्यः] तीन लोक में पूज्य हो गया हूँ।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! आपके दर्शन से आज मैं महा पुण्यवान हो गया हूँ। भगवान का दर्शन महापुण्य से होता है, पापोदय से नहीं। आज मुझसे बढ़कर वह चक्रवर्ती भी पुण्यवान नहीं है जो राजकाज, भोगविलास में डूबा हो। जिस भव्यात्मा में उल्लसित भाव से ऐसी अनुभूति आती है वह सभी पुण्यों को प्राप्त कर लेता है। पुण्य प्राप्ति की यह बहुत बड़ी [Mystry] रहस्यमय बात है। भगवान के दर्शन करने वाला कभी दरिद्री नहीं रहता है। भगवान के दर्शन करने वाले के लिए क्रोध, मान, ईर्ष्या, काम आदि कलुष परिणाम कभी भी परेशान नहीं करते हैं। मुझसे बढ़कर तीन लोक में पुण्यवान, पूज्य कोई नहीं, ऐसे भावों से भगवान के दर्शन की जो महिमा प्रतिदिन बढ़ाता है वह प्रतिदिन सुखसागर में डुबकी लगाता है और एक दिन वह स्वयं

साक्षात् भगवान् आत्मा बन जाता है। भगवान की भक्ति करने से भाग्य बनता है जिससे थोड़े से पुरुषार्थ से ही बहुत बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं - Do less and accomplish more अर्थात् थोड़ा करो और बहुत पाओ। आध्यात्मिकता का यह सिद्धान्त 'Low of least effort' थोड़े से प्रयास के नियम से जाना जाता है।

॥ इति ॥

आचार्य श्री माघनन्दी कृत

चतुर्विंशति तीर्थङ्कर स्तुति

(मंगलाचरण)

वन्दे तानमरप्रवेकमुकुटप्रोत्तारणप्रस्फुट-
द्धामस्तोमविमिश्रिताः पदनखा ईषत्करा रेजिरे।
येषां तीर्थकरेशिनांसुरसरिद्वारिप्रवाहोल्लुठ-
द्दीव्यद्देवनितम्बिनीस्तनगलत्काश्मीरपूरा इव॥ 1॥

अन्वयार्थ : [येषां] जिन [तीर्थकरेशिनां] तीर्थङ्कर ईश्वरों के [पदनखाः] चरणों के नाखून [ईषत्कराः] और थोड़े से हाथ [अमर-प्रवेक-मुकुट-प्रोत्तारण-प्रस्फुटद्-धामस्तोम-विमिश्रिताः] अमर प्रधानों के मुकुटों से निकली प्रकाशमान किरणसमूह से मिश्रित हुए [रेजिरे] शोभित होते हैं [सुर-सरिद्-वारि-प्रवाहोल्लुठद्-दीव्यद्-देव-नितम्बिनी-स्तन-गलत्काश्मीरपूराः इव] जो कि देवगंगा के जलप्रवाह से उछलते हुए एवं क्रीड़ा करती हुई देवस्त्रियों के वक्षस्थल से झरते हुए केसरि प्रवाह के समान है। [तान्] उनकी [वन्दे] मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : यहाँ सभी तीर्थङ्करों की सामान्य स्तुति करते हुए माघनन्दी जी तीर्थङ्करों के चरणों के नाखूनों की और थोड़े से हाथों की शोभा का वर्णन करते हैं। सभी भगवान् अरिहन्त के हाथ और पैर के नख की शोभा देवों के मुकुटों से प्रकाशमान किरण समूह से मिल रही है अर्थात् एकमेक हो रही है और उन नखसमूह में निरन्तर किसी नदी के प्रवाह के समान या देवियों के वक्षस्थल की कान्ति के समान निरन्तर पूर बहता सा दिख रहा है, ऐसे तीर्थङ्करों की मैं वन्दना करता हूँ।

वृषभं त्रिभुवनपतिशतवन्द्यं, मन्दरगिरिमिव धीरमनिन्द्यम्।
वन्दे मनसिजखगमृगराजं, राजिततनुमजितं जिनराजम्॥ 2॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवनपतिशतवन्द्यं] तीन लोक के सैकड़ों स्वामियों से वन्दनीय, [मन्दरगिरिं इव]सुमेरु पर्वत के समान [धीरं] धीर [अनिन्द्यं] प्रशंसनीय [वृषभं] वृषभनाथ की तथा [मनसिज-खग-मृगराजं] कामदेव, पक्षी और मृग से शोभित [राजिततनुं] सुशोभित शरीर वाले [अजितं] अजितनाथ [जिनराजं] जिनराज की [वन्दे] मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : जो ऊर्ध्वलोक के इन्द्र आदि देवों से, मध्यलोक के चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों से तथा अधोलोक के असुर आदि देवों से वन्दनीय हैं, जो सुमेरु पर्वत के समान अपने चरित्र में धैर्यवान थे, जो सदैव सभी से प्रशंसनीय रहे हैं, ऐसे वृषभनाथ प्रथम तीर्थंकर की मैं वन्दना करता हूँ। जो समवसरण में कामदेव, पक्षीराज, मृगराज से सहित थे, जिनका शरीर शोभायमान है ऐसे जिनश्रेष्ठ अजितनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।

सम्भवदुज्ज्वलगुणमहिमानं, सम्भवजिनपतिमप्रतिमानम्।
अभिनन्दनमानन्दितलोकं, विद्यालोकितलोकालोकम्॥ 3॥

अन्वयार्थ : [सम्भवदुज्ज्वलगुण-महिमानं] उत्पन्न हुए उज्ज्वल गुणों की महिमा वाले [अप्रतिमानं] अद्वितीय [सम्भवजिनपतिम्] सम्भवनाथ जिनेन्द्र की तथा [आनन्दितलोकं] संसार को आनन्दित करने वाले [विद्यालोकित-लोकालोकं] केवलज्ञान में लोक-अलोक को देखने वाले [अभिनन्दनं] अभिनन्दन जिन की वन्दना करता हूँ।

अर्थ : जिनकी आत्मा में गुण प्रकाशमान हुए हैं तथा उन्हीं गुणों से जो महिमावन्त हुए हैं, ऐसे अप्रतिम संभवनाथ जिननाथ की मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने अपने केवलज्ञान रूपी विद्या में लोक,

अलोक को देखा है अर्थात् लोक, अलोक जिनकी विद्या में, ज्ञान में प्रकाशित हैं, ऐसे अभिनन्दन भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ।

सुमतिं शमितानयसमुदायं, निर्दलिताखिलकर्मसमूहम्।
वन्दे तं पद्मप्रभजिनदेवं, देवासुरनरकृतपदसेवम्॥ 4॥

अन्वयार्थ : [शमितानय-समुदायं] अनय के समूह को शान्त करने वाले [निर्दलिताखिल-कर्म-समूहं] समस्त कर्मसमूह को नाश करने वाले [सुमतिं] सुमतिनाथ की तथा [देवासुर-नरकृत-पदसेवं] देव, असुर, मनुष्य के द्वारा सेवित चरण वाले [तं] उन [पद्मप्रभ-जिनदेवं] पद्मप्रभ जिनदेव की [वन्दे] मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : सुमतिनाथ भगवान् ने मिथ्या नयों के समूह का विरोध शमन कर दिया था। सभी कर्मों के मूल और उत्तर प्रकृति समूह को जिन्होंने विनष्ट कर दिया था, ऐसे भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ। तथा देव, असुरकुमार आदि अधोलोकवासी देव और मनुष्यों से जिनके चरणों की सेवा की गई है, उन पद्मप्रभ देव की मैं वन्दना करता हूँ।

सेवकमुनिजनसुरतरुपार्श्वं, प्रणमाम्यमितं तं जिनपार्श्वम्।
त्रिभुवनजननयनोत्पलचन्द्रं, चन्द्रप्रभमपवर्जितचन्द्रम्॥ 5॥

अन्वयार्थ : [सेवक-मुनिजन-सुरतरुपार्श्वं] सेवक मुनिजन और अशोक वृक्ष के समीप स्थित [अमितं] विशाल [तं] उन [जिनपार्श्वं] सुपार्श्वनाथ जिन को [प्रणमामि] मैं नमस्कार करता हूँ [त्रिभुवन-जन-नयनोत्पलचन्द्रं] तीन लोक के जीवों के नयन-

कमल के चन्द्रमा [अपवर्जितचन्द्रं] चन्द्र रहित [चन्द्रप्रभं] चन्द्रप्रभ जिन को मैं प्रणाम करता हूँ।

अर्थ : मुनिजन भी जिनके सेवक बनकर निकट में रहते थे तथा जिनके समीप अशोकवृक्ष था। अतिविशाल उन सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ। तीन लोक के समस्त जीवों के नयनकमलों को खिलाने के लिये चन्द्रमा के समान तथा स्वयं चन्द्रमा की तरह कलाओं की वृद्धि-हानि से रहित चन्द्रप्रभ जिन को प्रणाम करता हूँ।

सुविधिं विधुधवलोज्ज्वलकीर्तिं, त्रिभुवनजनपतिकीर्तितमूर्तिम्।
भूतलपतिनुतशीतलनाथं, ध्यानमहानलहुतिरतिनाथम्॥ 6॥

अन्वयार्थ : [विधु-धवलोज्ज्वल-कीर्तिं] चन्द्रमा के समान धवल, उज्ज्वल कीर्ति के धारक [त्रिभुवन-जन-पति-कीर्तितमूर्तिं]तीन लोक के जीवों के स्वामी से जिनके शरीर की स्तुति की गई है [सुविधिं] ऐसे सुविधिनाथ की तथा [ध्यान-महानल-हुति-रतिनाथं] ध्यान रूपी महा अग्नि में रतिनाथ को आहूत करने वाले [भूतल-पति-नुत-शीतलनाथं] पृथ्वी के राजाओं से स्तुत शीतलनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : सुविधिनाथ भगवान् की कीर्ति चन्द्रमा के समान धवल और उज्ज्वल थी। तीन लोक के जीवों के अधिपतियों से जिनकी मूर्ति [शरीर] की स्तुति की गई है, उन सुविधिनाथ भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ। जिन शीतलनाथ भगवान् ने अपने ध्यानरूपी महाअग्नि में कामदेव को भस्म कर दिया तथा पृथिवीतल के समस्त राजाओं से जिनको नमस्कार किया गया है, ऐसे शीतलनाथ जिनेन्द्र देव की मैं वन्दना करता हूँ।

स्पष्टानन्तचतुष्टयनिलयं, श्रेयो जिनपतिमपगतविलयम्।
श्रीवसुपूज्यसुतं नुतपादं, भव्यजनप्रियदिव्यनिनादम्॥ 7॥

अन्वयार्थ : [स्पष्टानन्त-चतुष्टय-निलयं] अनन्त चतुष्टय का निलय जिन्हें स्पष्ट हुआ है [अपगतविलयं]विनाश रहित[श्रेयोजिनपतिं] श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र को तथा [भव्यजन-प्रिय-दिव्यनिनादं] भव्यजनों के लिए प्रिय, दिव्यध्वनि करने वाले [नुतपादं] जिनके चरण स्तुति को प्राप्त हैं ऐसे [श्रीवसुपूज्यसुतं] श्री वसुपूज्य के पुत्र वासुपूज्य भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ।

अर्थ : भगवान् श्रेयांसनाथ के आत्मपदार्थ में अनन्त चतुष्टय का पूरा निलय स्पष्ट प्रत्यक्ष हुआ है, जो सर्वथा विलय/विनाश से रहित हैं ऐसे श्रेयोनाथ को तथा भव्य जीवों के लिए प्रिय दिव्यध्वनि से उपदेश देने वाले, अनेक मुनि, देव आदि से जिनके चरण स्तुत हैं, ऐसे वसुपूज्य राजा के पुत्र श्री वासुपूज्य भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ।

कोमलकमलदलायतनेत्रं, विमलं केवलसस्यक्षेत्रम्।
निर्जितकन्तुमनन्तजिनेशं वन्दे मुक्तिवधूपरमेशम्॥ 8॥

अन्वयार्थ : [कोमलकमल-दलायतनेत्रं] कोमल कमलदल के समान विशाल नेत्र वाले [केवलसस्यक्षेत्रम्] केवलज्ञान की फसल जिनकी आत्मा में है ऐसे [विमलं] विमलनाथ भगवान् की [निर्जितकन्तुं] कामदेव को जीतने वाले [मुक्तिवधूपरमेशं] मुक्ति स्त्री के परमेश्वर [अनन्तजिनेशं] अनन्तनाथ जिनेश्वर की [वन्दे] मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : कमल की पांखुड़ी के साथ कोमल तथा विशाल नेत्र वाले

विमलनाथ भगवान् की आत्मा में केवलज्ञान की फसल उत्पन्न हुई है तथा कामदेव को जीतने वाले, मुक्ति स्त्री के स्वामी अनन्तनाथ जिनदेव की मैं वन्दना करता हूँ।

धर्मं निर्मलशर्मापन्नं, धर्मपरायणजनताशरणम्।
शान्तिं शान्तिकरं जनतायाः, शान्तिभरक्रमकमलनतायाः ॥9॥

अन्वयार्थः [निर्मलशर्मापन्नं] निर्मल सुख को प्राप्त[धर्म-परायण-जनता-शरणं] धर्म परायण जनता के लिये शरणभूत [धर्मं] धर्मनाथ की तथा [शान्तिभर-क्रम-कमलनतायाः] शान्ति से भरे चरणकमलों में नत [जनतायाः] जनता को [शान्तिकरं] शान्ति करने वाले [शान्तिं] शान्तिनाथ भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : शान्ति और निर्मल सुख जिन्हें प्राप्त है तथा धर्मपरायण जनता को जो शरण देते हैं, उन धर्मनाथ भगवान् की तथा जिन शान्तिनाथ भगवान् के चरण कमल शान्ति से भरे हैं, उन भगवान् के चरणों में नतमस्तक हुई जनता, प्रजा के लिए शान्ति प्रदान करने वाले शान्तिनाथ भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ।

कुन्थुं गुणमणिरत्नकरण्डं, संसाराम्बुधितरणतरण्डम्।
अमरीनेत्रचकोरीचन्द्रं, भुवि परमं पदविनुतमहेन्द्रम्॥ 10॥

अन्वयार्थ : [गुणमणिरत्नकरण्डं] गुण रूपी मणि, रत्नों के पिटारे [संसाराम्बुधि-तरण-तरण्डं] संसार समुद्र से तरने के लिए नौका स्वरूप [कुन्थुं] कुन्थुनाथ भगवान् तथा [अमरीनेत्रचकोरीचन्द्रं] देवियों के नेत्र चकोरी के लिए चन्द्र समान [भुवि] पृथिवी पर [परमं] श्रेष्ठ [पदविनुतमहेन्द्रम्] और जिनके चरणों की बड़े-बड़े इन्द्र स्तुति किये हैं, उन अरनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : कुन्थुनाथ भगवान् गुणरूपी मणिरत्नों के पिटारे एवं संसार समुद्र को पार जाने की नाव हैं। अरनाथ भगवान् देवियों के नेत्रचकोरी के लिए चन्द्र के समान हैं। चकोरी एक मादा पक्षी है, जिसको चन्द्रमा से आनन्द होता है। वह भगवान् इस पृथिवी पर परम पुरुष हैं। पृथिवी और स्वर्ग के प्रधान पुरुष भगवान् के चरणों में स्तुति करते हैं। यहाँ छन्द में 'अर' नाम नहीं आया है, फिर भी प्रसंगवश जानना।

उद्धतमोहमहाभटमल्लं, मल्लिं फुल्लसुरप्तिमल्लम्।
सुव्रतमपगतदोषनिकायं, चरणाम्बुजनुतदेवनिकायम्॥ 11॥

अन्वयार्थ : [उद्धत-मोह-महाभटमल्लं] मोहरूपी महाभट मल्ल को जिन्होंने उठा के पटक दिया [फुल्लसुरप्तिमल्लं] बढ़े हुए कामदेव के लिए मल्ल [मल्लिं] मल्लिनाथ तथा [अपगतदोषनिकायं] जो दोष समूह से दूर हुए हैं [चरणाम्बुजनुत-देवनिकायं] जिनके चरणकमलों की देवसमूह ने स्तुति की [सुव्रतं] उन मुनिसुव्रतनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : मोहरूपी महामल्ल योद्धा को जिन्होंने मार दिया है और फूले हुए कामदेव को नाश करने के लिए मल्लस्वरूप मल्लिनाथ हैं। भगवान् मुनिसुव्रत दोषों के समूह से दूर हैं तथा देवों के समूह से जिनके चरणकमलों की स्तुति हुई है। उन भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ। यहाँ 'वन्दे' क्रियापद नहीं है, उसको आगे या बाद के छन्द से जोड़ लेना।

नौमि नमिं गुणरत्नसमुद्रं, योगिनिरूपितयोगसमुद्रम्।
नीलश्यामलकोमलगात्रं, नेमिस्वामिनमेनोदात्रम्॥ 12॥

अन्वयार्थ : [गुणरत्नसमुद्रं] गुण-रत्नों के समुद्र [योगिनिरूपित-योगसमुद्रं] योगियों ने जिनके योग समुद्र को कहा है उन [नमिं] नमिनाथ को [नौमि] नमस्कार करता हूँ। [नील-श्यामल-कोमलगात्रं] नीले श्यामल रंग के कोमल शरीर धारक [ऐनोदात्रं] पापनाशक [नेमिस्वामिनं] नेमिस्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

अर्थ : भगवान् नमिनाथ अनेक गुणरूपी रत्नों के समुद्र हैं। उनके गुणसमुद्र की गहराई योगियों के द्वारा ही कही जा सकती है। भगवान् नेमिनाथ के शरीर का रंग नीला-काला था और वह पाप को नाश करनेवाले थे।

फणिफणमण्डपमण्डितदेहं, पार्श्वं निजहितगतसन्देहम्।
वीरमपारचरित्रपवित्रं, कर्ममहीरुहमूललवित्रम्॥ 13॥

अन्वयार्थ : [फणिफण-मण्डप-मण्डितदेहं] जिनका शरीर सर्प के फणामण्डप से सहित था [निज-हित-गत-सन्देहं] अपने हित में जो सन्देह रहित थे [पार्श्वं] उन पार्श्वनाथ को और [अपार-चरित्र-पवित्रं] विशाल चरित्र से पवित्र [कर्म-महीरुह-मूल-लवित्रं] कर्मरूपी वृक्ष की जड़ को काटने के लिये हंसिया के समान [वीरं] वीर भगवान् को नमस्कार है।

अर्थ : भगवान् पार्श्वनाथ का शरीर उपसर्ग के समय धरणेन्द्र के फणामण्डप से सज्जित था और उन्हें अपने आत्महित के विषय में सन्देह नहीं था जिससे वह आत्मध्यान में लीन थे। जिसकी थाह न पायी जाय ऐसे चारित्र को धारण करने से जो पवित्र थे और जो कर्मवृक्ष को समूल काट देने के लिए मानो हंसिया थे, ऐसे वीर भगवान् को मेरा नमस्कार हो।

संसाराप्रतिमप्रतिबोधं, परिनिष्क्रमणं केवलबोधम्।
परिनिर्वृतिसुखबोधितबोधं, सारासारविचारविबोधम्॥ 14॥
वन्दे मन्दरमस्तकपीठे, कृतजन्माभिषवं नुतपीठे।
दर्शनान्तविलब्धिविकरणं, केवलबोधामृतसुखकरणम्॥ 15॥

अन्वयार्थ : [संसाराप्रतिम-प्रतिबोधं] संसार को अप्रतिम प्रतिबोध देने वाले [परिनिष्क्रमणं] तपःकल्याण को प्राप्त [केवलबोधं] केवलज्ञान वाले [परिनिर्वृति-सुख-बोधित-बोधं] निर्वाण सुख का बोध देने वाले [सारासार-विचार-विबोधं] सार-असार का विचार करने वाला विशेष ज्ञान सहित [नुतपीठे] देवों से स्तुत [मन्दर-मस्तक-पीठे] मेरुमन्दर के अग्रभाग पर [कृतजन्माभिषवं] जिनका जन्माभिषेक किया गया है [दर्शनान्त-विलब्धिविकरणं] दर्शन और अन्त की लब्धि प्राप्त की है [केवलबोधामृतसुखकरणं] केवलज्ञान अमृत से सुख करनेवाले तीर्थङ्कर की [वन्दे] मैं वन्दना करता हूँ।

अर्थ : यहाँ सामान्य रूप से दो छन्दों में तीर्थङ्करों की विशेषताओं को बताया है। सभी तीर्थङ्कर प्रभु संसार को अद्वितीय ज्ञान देकर गये हैं। तपःकल्याण, केवलज्ञान के धारक, मुक्ति के सुख को समझाने वाले, स्वयं हित-अहित का विवेक ज्ञान धारण करने वाले और पूज्य सुमेरु पर्वत पर अभिषेक को प्राप्त हैं। जिन्होंने सम्यग्दर्शन और अन्त की संयम लब्धि को किया है एवं केवलज्ञान अमृत से सुख को करनेवाले हैं ऐसे सभी तीर्थङ्करों की मैं वन्दना करता हूँ।

अनणुगुणनिबद्धामर्हतां माघनन्दि-
व्रतिरचितसुवर्णानेक -पुष्पव्रजानाम्।
स भवति जयमालां यो विधत्ते स्वकण्ठे
प्रियपदममरश्रीमोक्षलक्ष्मी- वधूनाम्॥ 16॥

अन्वयार्थ : [माघनन्दि-व्रति-रचित-सुवर्णानेकपुष्पव्रजानां] माघनन्दि व्रती के द्वारा रचित अच्छे वर्णों के अनेक पुष्पसमूहों वाले [अनणु-गुण-निबद्धां] अनल्प गुणों से निबद्ध [अर्हतां] अरिहन्तों की [जयमालां] जयमाला को [यः]
जो [स्वकण्ठे] अपने कण्ठ में [विधत्ते] धारण करता है [सः] वह [अमरश्री-मोक्षलक्ष्मी-वधूनां] देवों की लक्ष्मी और मोक्षलक्ष्मी रूप वधुओं का [प्रियपदं] प्रिय पद [भवति] होता है।

अर्थ : माघनन्दि व्रती ने अर्हन्त प्रभु की यह स्तुति की है। यह स्तुति पुष्पों से बनी माला है। जैसे पुष्पों में अच्छे रंगों के फूल होते हैं वैसे ही इस स्तुति में अच्छे वर्णों, अक्षरों की रचना है। जैसे माला की डोरी बड़ी होती है, वैसे ही स्तुति पुष्पमाला में गुंथी डोरी अधिक गुणों से सहित है। अरिहन्तों की इस जयमाला, स्तुति को जो भव्य जीव अपने कण्ठ में धारण करता है अर्थात् याद कर लेता है, वह स्वर्ग की लक्ष्मी का प्रियपद पाता है। यानी इन्द्र पद पाता है। वही जीव भविष्य में मोक्ष लक्ष्मी वधू का प्रियपद यानी सिद्धत्व भी प्राप्त करता है।

॥ इति ॥

संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः?

किलात्मघात: क्रियते तु देह-भृताऽपमानाद्यनुभूय चेह।
संन्यस्यते शान्तिमताऽऽत्मनाऽत: संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघात: ॥ 1 ॥

अन्वयार्थ : [इह] इस संसार में [देहभृता] देहधारी के द्वारा [अपमानाद्यनुभूय] अपमान आदि का अनुभव करके [किल] निश्चित ही [आत्मघात:] आत्मघात [क्रियते] किया जाता है [तु] परन्तु [शान्तिमता] शान्ति धारण करने वाली [आत्मना] आत्मा के द्वारा [संन्यस्यते] संन्यास धारण किया जाता है [अत:] इसलिए [एष: संन्यास:] यह संन्यास [किम्] क्या [आत्मघात:] आत्मघात [अस्तु] हो सकता है?

अर्थ : अपमान आदि से उत्पन्न संक्लेश को सहन नहीं कर पाने के कारण संसार में कोई जीव आत्महत्या कर लेता है। उस आत्महत्या की तुलना संन्यास / सल्लेखना से नहीं की जा सकती है। आत्मवध करने वाला आत्मा दु:खी होकर कलुषता के भावों से शरीर छोड़ता है, किन्तु संन्यास धारण करने वाला अत्यन्त शान्त परिणामों से शरीर छोड़ता है। आत्महत्या में संक्लेश की प्रचुरता रहती है, किन्तु सल्लेखना में विशुद्धि की प्रचुरता होती है। देह का त्याग दोनों में है, किन्तु प्रयोजन के अनुसार आत्म परिणामों की विपरीतता है। इसलिए यह संन्यास क्या आत्मघात कहा जा सकता है? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

नाशोन्मुखं नाम शरीरमेतन्निक्षिप्यते तादृगुपक्रमेत्।
हृषीकनि:स्वान्तनियन्त्रणात: संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघात: ॥2 ॥

अन्वयार्थ : [एतत्] यह [शरीरं] शरीर [नाशोन्मुखं नाम] नाश के उन्मुख रहता है। [हृषीकनि:स्वान्त-नियन्त्रणात:] इन्द्रिय और मन के नियन्त्रण से [तादृग्] उस प्रकार [उपक्रमेत] उपकार करो

[निक्षिप्यते] जिससे यह छूट जाय [एषः संन्यासः] यह संन्यास [किम्] क्या [आत्मघातः] आत्मघात [अस्तु] हो सकता है?

अर्थ : स्वाभाविक रूप से यह शरीर प्रति समय नष्ट हो रहा है। यह शरीर विनाश की ओर है। ऐसे शरीर को भी उस तरह चलाओ कि यह शरीर अन्तिम समय में छूट जाय। अपने मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण बनाए रखो। यह नियन्त्रण ही संयम है। संयम से चलाने पर यह शरीर अन्त में आसानी से छूट जाता है। इस तरह संयम के साथ शरीर का त्याग करना संन्यास है। क्या आत्महत्या में यह संयम है? क्या आत्महत्या में शरीर को उस तरह संयम के साथ अभ्यस्त किया जाता है? क्या आत्महत्या में मन और इन्द्रिय को इस तरह वश में किया जाता है? यदि नहीं, तो फिर यह संन्यासमरण आत्मघात कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। अहो! यह संन्यास यानी सल्लेखना कितना अद्‌भुत है कि जो स्वयं नष्ट हो रहा है, विनाशीक है, उस शरीर को भी बड़ी संभाल के साथ, उस शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर त्यागा जाता है। इस प्रकार के खान-पान से उसे चलाया जाता है कि वह धीरे-धीरे अपने आप धराशायी हो जाता है। जबकि आत्मघात में सहसा दुःखी होकर शरीर मिटा दिया जाता है, इसलिए यह संन्यास आत्मघात नहीं है। दोनों में बहुत अन्तर है। संन्यास में शरीर और आत्मा दोनों का उपकार है, जबकि आत्महत्या में दोनों का अपकार होता है, यही बहुत बड़ा अन्तर है।

किन्त्वात्मनोग्लानिवशेन घातस्तनोः सुचारोः क्रियते बतातः।
उद्विज्य सञ्जीवनतोऽयि मातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः॥ 3॥

अन्वयार्थ : [किन्तु] किन्तु [बत] खेद है कि [अयि मातः] अरे माता!

[सञ्जीवनतः] अच्छे जीवन से [उद्विज्य] उद्विग्न होकर [आत्मग्लानिवशेन] आत्मग्लानि के कारण [सुचारोः] सुन्दर [तनोः] शरीर का [घातः] नाश [क्रियते] किया जाता है [अतः] इसलिए [एषः] यह [आत्मघातः] आत्मघात [किम्] क्या [संन्यासः] सल्लेखना [अस्तु]हो सकता है?

अर्थ : हे माँ शारदे! खेद है कि लोग आत्महत्या और संन्यास मरण को एक समान मानते हैं। अरे! आत्मघात तो इस जीवन से दुःखी होकर किया जाता है। इस मानव जीवन में जब अनेक बाधाओं से आदमी परेशान हो जाता है तब आत्मग्लानि से भर जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपने अच्छे शरीर का घात करता है और इस सुन्दर जीवन को मिटा देता है। वह सोचता है कि इस शरीर के नाश से मुझे दुःखों से मुक्ति मिल जाएगी किन्तु सल्लेखना में आत्मविशुद्धि के भावों से आत्मा भरा होता है। उसे इस जीवन का कोई दुःख नहीं होता है। वह संसार की वास्तविकता का और शरीर के स्वभाव का विचारकर शान्त परिणामों से सहित होता है। वैराग्य से उसका मन भरा होता है। वह शरीर से अपनी आत्मा को नहीं जोड़ता हुआ इस शरीर का त्याग सहज कर देता है। उसका उद्देश्य शरीर के कारण होने वाले जन्म, मरण की परम्परा को तोड़ना है। आत्महत्या करनेवाला तो फिर से दुःख भोगता है, जबकि संन्यासी आत्मा दैवीय और मोक्ष के सुख पाता है।

विषादिनाऽङ्गक्षतिमाञ्जघन्यः स आत्मघाती पुनरेति धन्यः।
देहे विरुद्धेऽमुमुदारतातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥4॥

अन्वयार्थ : [विषादिना] विषादी आत्मा के द्वारा [अङ्गक्षतिमान्] जो शरीर को नष्ट किया है [सः] वह [आत्मघाती] आत्मघाती [जघन्यः] अधम है [पुनः] किन्तु [देहे विरुद्धे] देह के विरुद्ध होने पर [अमुं] इस

देह को [उदारतातः] उदारता से [एति] ले जाता है [धन्यः] वह धन्य है [एषः] यह [संन्यासः] संन्यास [किम्] क्या [आत्मघातः] आत्मघात [अस्तु] होवे?

अर्थ : जो विषादभाव से, खेद खिन्नता से, परेशान होकर अपने शरीर को नष्ट करनेवाला हुआ है, वह आत्मघाती है। ऐसा मनुष्य तो निकृष्ट है। इसके विपरीत देह में रोग आदि होने के कारण, अशक्य प्रतीकार के योग्य होने के कारण जिसकी देह विरुद्ध हो गयी है, जिसका शरीर अब आत्मा का साथ नहीं दे रहा है, जिसका शरीर औषध, पथ्य सेवन से भी और अधिक रुग्ण होता जा रहा है, जो देह खिलाने–पिलाने के लायक नहीं रही है, ऐसी विरुद्ध देह को भी उदारता के साथ अर्थात् उसका शीघ्र नाश न करके, अपकार न सहते हुए धीरे–धीरे उसे मृत्यु तक ले जाता है वह आत्मा धन्य है। वस्तुतः संन्यास अर्थात् सं- समीचीन रूप से देह का न्यास करना, रख देना ही सल्लेखना है। क्या ऐसा संन्यास या सल्लेखना आत्मघात कहला सकता है? अर्थात् नहीं कहला सकता है।

संन्यासिना रत्नकरण्डकस्येवाङ्गस्य रक्षा क्रियते स्ववश्ये।
नो चेत्तु रत्नान्यभिरक्षतातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः॥ 5॥

अन्वयार्थ : [संन्यासिना] संन्यासी के द्वारा [रत्नकरण्डकस्य] रत्नों के पिटारे के [इव] समान [अङ्गस्य] शरीर की [रक्षा] रक्षा [क्रियते] की जाती है [नो चेत्तु] नहीं तो [स्ववश्येत्रः] अपने आपको वश में कर लेने पर [रत्नानि] रत्नों की [अभिरक्षता] अभिरक्षा करने वाला वह होता है [अतः] इसलिए [एषः] यह [संन्यासः] संन्यास [किम्] क्या [आत्मघातः] आत्मघात [अस्तु] होगा?

अर्थ : जैसे कोई रत्नों की रक्षा करनेवाला पुरुष उस पिटारे की भी रक्षा करता है, जिसमें वह रत्न रखे हैं, वैसे ही रत्नत्रय को आत्मा में धारण

करनेवाला संन्यासी उस देह की भी रक्षा करता है, जिसमें यह आत्मा रहता है। यदि कदाचित् पिटारे में आग लग जाए, तो वह पुरुष उस पिटारे के मोह को छोड़कर रत्नों की रक्षा अवश्य करता है। उसी प्रकार देह जब संन्यासी के अपने वश में रहती है तब तक उस देह की रक्षा करता है। यदि देह अपने वश में न रहे तो अपनी आत्मा को वश में कर लेता है। ऐसा करने से वह देह के मोह को जीतकर जितेन्द्रिय बन जाता है। उस समय उसका उद्देश्य आत्मा के रत्नत्रय की रक्षा करना हो जाता है। रत्नत्रय की रक्षा करने के लिए शरीर की ममता त्याग देना ही समाधि या सल्लेखना है। इसी का नाम संन्यास है। यह आत्मघात नहीं है। आत्मघाती देह को अभिप्रायपूर्वक नष्ट करता है किन्तु संन्यासी देह को किसी कारणवश नष्ट होता हुआ देखकर उससे अपना मोह हटाकर आत्मवान् बन जाता है, इसलिए संन्यास आत्मघात नहीं है।

स्वसंविदः संवहनं विधानेऽपि श्लाघ्यतामेति किलानुजाने।
यो गीयते योगिषु संहितातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः॥ 7॥

अन्वयार्थ : [विधानेऽपि] सल्लेखना समय पर भी [स्वसंविदः] स्वात्मज्ञानी का [संवहनं] समीचीन रूप से धारण करना [श्लाघ्यतां एति] प्रशंसा को प्राप्त होता है [किल] निश्चित ही [अनुजाने] मैं ऐसा मानता हूँ [यो] जो संन्यास [संहितातः] जिनवाणी के अनुसार [योगिषु] योगियों को [गीयते] कहा जाता है [एषः] ऐसा यह [संन्यासः] संन्यासमरण [किम्] क्या [आत्मघातः] आत्मघात [अस्तु] होवे?

अर्थ : सल्लेखना मरण के विधान में आत्मा का स्वसंवेदन होता है। यह संवेदन बड़ा ही अद्भुत होता है। ऐसा आत्मसंवेदन धारण करने वाला आत्मा निश्चित ही योगियों से प्रशंसित होता है। आचार संहिता

के अनुसार सल्लेखनामरण की विधि बहुत विस्तृत है। एक क्षपक की [आराधक की] समाधि में 48 मुनिराज की आवश्यकता होती है। इतना बृहद् सम्यक् विधान भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में योगियों के लिए कहा है। यह सल्लेखना मरण की विधि है। क्या ऐसी कोई शास्त्रोक्त विधि आत्मघात की होती है? ऐसी स्थिति में यह संन्यास क्या आत्मघात हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

यत्रात्महन्त्रे घृणया धिगस्तु संन्यासिने किन्तु नमोऽङ्गिनस्तु।
सर्वत्र नित्यं मृदुभावनातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥ 8 ॥

अन्वयार्थ : [घृणया] घृणा से [यत्र] जहाँ [आत्महन्त्रे] आत्मघाती के लिए [धिग् अस्तु] धिक्कार हो [किन्तु] किन्तु [सर्वत्र] सब जगह [नित्यं] हमेशा [मृदुभावनातः] मृदुभावना से [अङ्गिनः] प्राणी का [संन्यासिने] संन्यासी के लिए [तु] निश्चित ही [नमः] नमस्कार हो [एषः] यह [संन्यासः] संन्यास [किम्] क्या [आत्मघातः] आत्मघात [अस्तु] हो सकता है?

अर्थ : आत्मघात करनेवाला जीव अपने जीवन को घृणा से देखता है। वह प्राणी आत्मग्लानि से जब भर जाता है तो वह आत्मघात करता है। इसके विपरीत संन्यास धारण करनेवाला अत्यन्त मृदु भावना से सल्लेखना अङ्गीकार करता है। वह देह के प्रति उदासीन हो जाता है। संन्यास धारण करनेवाला आत्मग्लानि से नहीं किन्तु उत्तम मार्दव धर्म आदि आत्मशान्ति के भावों से भरा होता है। ऐसी समाधि की आराधना करनेवाला आत्मा जहाँ कहीं हो, उनके लिए हमेशा मेरा नमस्कार है। संन्यास इस तरह आत्मघात से भिन्न है। यह संन्यास क्या आत्मघात हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

॥इति॥

पात्रकेसरी स्तोत्रम्

(पृथ्वी छन्द)

॥ समस्त कर्मविनाशक प्रभु की स्तुति॥

जिनेन्द्र! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणं।
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽह-मत्यादरात्
स्फुटार्थ-नयपेशलां सुगत! संविधास्ये स्तुतिम्॥ 1॥

हे भगवन्! तव गुण संस्तुति यदि थोड़ी भी है की जाती
सकल कर्म को क्षय करने में कारण परम रही आती।
इसीलिए अति आदर से मैं बुद्धि से निश्चय करके
सुन्दर अर्थ, नयों से हिलमिल संस्तुति करता मन भर के॥1॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्र!] हे जिनेन्द्र भगवन्! [तव] आपके [गुणसंस्तुतिः] गुणों की स्तुति [मनागपि] थोड़ी भी [प्रस्तुता] अच्छी तरह की हुई [अखिलकर्मणां] समस्त कर्मों के [प्रहतये] नाश के लिए [परं कारणं] उत्कृष्ट कारण [भवति] होती है। [इति] इस प्रकार [मम] मेरी [मतिः] बुद्धि [व्यवसिता] निश्चयात्मक हुई है [ततः] इसलिए [अहम्] मैं [अति-आदरात्] अत्यधिक आदर के साथ [सुगत!] हे सुगत! [स्फुटार्थ-नय-पेशलां] स्पष्ट अर्थ और नयों से कुशल [स्तुतिम्] आपकी स्तुति को [संविधास्ये] करूँगा।

अर्थ : स्तुतिकार ने यहाँ स्तुति करने का प्रयोजन बताया है। बिना प्रयोजन के कोई भी कार्य करना मूर्खता है। भगवान् के गुणों की स्तुति यदि थोड़ी भी विशुद्ध भावों से अच्छी तरह की जाती है तो वह समस्त कर्मों के क्षय का कारण होती है। कर्मों का क्षय करने के लिए इस स्तुति से बढ़कर और कोई दूसरा कारण नहीं है। महामिथ्यात्व कर्म का क्षय और अनन्तानुबन्धी कषायों का अभाव

स्तुति से ही होता है। मिथ्यात्व कर्म के अलावा अन्य भी कर्मों में जो निधत्ति, निकाचित बन्ध पड़ा होता है, वह भी भगवान् जिनेन्द्र देव के दर्शन, भक्ति, स्तुति, गुणगान से नष्ट होता है। इस तरह मेरी बुद्धि में यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि आपकी स्तुति से बढ़कर कर्मक्षय का कोई अन्य कारण नहीं है। इस प्रयोजन से मैं अत्यन्त आदरभाव के साथ, विनय, भक्ति से युक्त हो हे सुगत! हे सर्वज्ञ! आपकी स्तुति करूँगा। मेरी इस स्तुति के शब्द अर्थ को स्पष्ट करने वाले और नयविधा से सुन्दर हैं। व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से अर्थ का निरूपण करने वाली मैं स्तुति करूँगा, यह प्रतिज्ञा है।

॥ भगवान् स्वयम्भू हैं ॥

मतिःश्रुत-मथावधिश्च सहजं प्रमाणं हि ते
ततः स्वय-मबोधि मोक्षपदवीं स्वयंभूर्भवान्।
न चैतदिह दिव्यचक्षु-रधुनेक्ष्यतेऽस्मादृशां
यथा सुकृतकर्मणां सकलराज्य-लक्ष्म्यादयः ॥ 2 ॥

मति, श्रुत, अवधि ज्ञान लेकर ही सप्रमाण अवतरित हुए
स्वयं ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर आप स्वयम्भू स्वयं हुए।
जैसे दिखते नहीं यहाँ पर चक्री राजा के वैभव
पुण्य कर्म के फल से मिलता त्यों कैवल्य ज्ञान वैभव॥ 2॥

अन्वयार्थ : [ते] हे भगवन्! आपके लिए [मतिः] मतिज्ञान [श्रुतम्] श्रुतज्ञान [अथ] और [अवधिः च] अवधिज्ञान [सहजं] साथ उत्पन्न हुए [प्रमाणं] प्रमाण [हि] ही हैं [ततः] इसलिए [भवान्] आप [स्वयम्भूः] स्वयम्भू भगवान् ने [मोक्षपदवीं] मोक्षपदवी को [स्वयं] स्वयं [अबोधि] जान लिया [च एतत्] और यह [दिव्यचक्षुः] दिव्य ज्ञान नेत्र [इह] इस लोक में [अधुना]

वर्तमान में [अस्मादृशां] हम जैसे लोगों के [न ईक्ष्यते] नहीं दिखाई देता है [यथा] जैसे [सुकृतकर्मणां] पुण्य कर्मों के [सकल-राज्य-लक्ष्म्यादयः] समस्त राज्य की लक्ष्मी आदि फल होते हैं।

अर्थ : हे भगवन्! आप जन्म से ही क्या, गर्भ से ही तीन ज्ञान के धारी थे। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान आपके प्रमाणरूप थे। ये ज्ञान आपकी आत्मा में सहज थे। सहज के दो अर्थ हैं- 1. साथ उत्पन्न होना, 2. कठिनता से न होना। आपकी आत्मा में उत्पन्न तीनों ज्ञान सहज होने से आप स्वयम्भू कहलाए। आपने स्वयं मोक्ष पद का ज्ञान प्राप्त कर लिया, इसलिये भी आप स्वयम्भू कहलाते हैं। कहा भी है-

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥ प्र.सा. /16॥

अर्थ – इस प्रकार अपने स्वभाव को स्वयं प्राप्त कर वह आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञ तथा त्रैलोक्यपूज्य होने से स्वयम्भू है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

ऐसा दिव्य ज्ञान वर्तमान में हम लोगों के पास नहीं है। जैसे वर्तमान में इस लोक में उत्कृष्ट पुण्य का फल चक्रवर्ती आदि की राज्य सम्पदा का होना नहीं देखा जाता है, उसी प्रकार गर्भ, जन्म से ही अवधिज्ञान और सम्यग्ज्ञान प्राप्त होना नहीं देखा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि आप पूर्व जन्म में श्रेष्ठ कर्म का उपार्जन कर इस जन्म में तीन ज्ञान के धारी बने हैं। किसी भी तीर्थंकर को मोक्ष पदवी के विषय में कोई समझाता नहीं है। स्वयं प्राप्त सम्यग्ज्ञान से वह मोक्षसुख को जानकर प्रयत्न करते हैं, इसलिए सभी तीर्थंकर स्वयम्भू कहलाते हैं।

॥ विरोधाभास अलंकार युक्त स्तुति॥
॥ वीतरागी होने पर भी जगद्बन्धुत्व॥

व्रतेषु परिरज्यसे निरु पमे च सौख्ये स्पृहा
बिभेष्यपि च संसृते-रसुभृतां वधं द्वेक्ष्यपि।
कदाचि-ददयोदयो विगतचित्तको-ऽप्यञ्जसा
तथापि गुरु रिष्यते त्रिभुवनैक-बन्धुर्जिनः॥ 3॥

सदा व्रतों में लीन रहे हो निरुपम सुख में निवस रहे
संसृति के दुःखों से प्रतिपल डरकर के भी अवश रहे।
चित्त रहित हो, दया कहाँ हो, फिर भी जीव दया रखते
इसीलिए तो तीन लोक के बन्धु, गुरु, जिन जन कहते॥ 3॥

अन्वयार्थ : [व्रतेषु] आप व्रतों में [परिरज्यसे] लीन रहते हो [च] और [निरुपमे सौख्ये] निरुपम सुख में [स्पृहा] आपकी अभिलाषा है। [च] तथा [संसृतेः] संसार से [बिभेषि अपि] डरते भी हैं [असुभृतां] प्राणियों के [वधं] वध से [द्वेक्षि अपि] द्वेष भी करते हैं। [कदाचिद्] कदाचित् [अदयोदयः] अदया का उदय है [विगतचित्तकः अपि] आप चित्तरहित भी हैं [अञ्जसा] स्पष्ट रूप से [तथापि] फिर भी [गुरुः] आप गुरु, [त्रिभुवनैकबन्धुः] तीन लोक के एकमात्र बन्धु, [जिनः] जिन [इष्यते] कहे जाते हैं।

अर्थ : यहाँ भगवान् की विरोधाभास अलंकार के साथ स्तुति की गई है। हे भगवन्! आप संसार से डरते हो और प्राणियों के वध से द्वेष करते हो, यह विस्मय है। संसार में देखा जाता है कि जो किसी से डरता है, वह उसका वध कर देता है, जिससे कि वह भय मुक्त हो जावे। परन्तु आपके साथ तो उलटा है। आप संसार से डरते हो, परन्तु किसी भी संसारी प्राणी का वध नहीं करते हो। हिंसा से आपको द्वेष है, तभी तो आप हिंसा से दूर रहते हो। कथंचित्

आपके पास दया का अभाव है, क्योंकि आप किसी की दया करते हुए नहीं देखे जाते हैं। यह अदया का भाव भी मन सहित जीव में होता है, लेकिन आप तो चित्तरहित हैं।

अथवा भगवान् किसी का वध नहीं करते हैं, क्योंकि उनके हृदय में अदया का अभाव है। अदया का अभाव होकर भी कदाचित् अदया का उदय है, इसलिए यह भी विरोधाभास है। अदया का उदय और अदया का अभाव मन–रहित जीव के होना भी विरोधाभास है। यह सब होते हुए भी आप तीन लोक के एकमात्र बन्धु हैं, आप ही गुरु हैं और आप ही जिनेन्द्रदेव कहे जाते हैं।

॥ भगवान् के केवलज्ञान की स्तुति॥

तपः पर–मुपश्चितस्य भवतोऽ–भवत्केवलं
समस्तविषयं निरक्ष–मपुनश्च्युति स्वात्मजम्।
निरावरण–मक्रमं व्यतिकरा–दपेतात्मकं।
तदेव पुरुषार्थसार–मभिसम्मतं योगिनां॥ 4॥

उत्कट तप करने से प्रभुवर हुआ आपको केवलज्ञान
इन्द्रियरहित हुआ सब जाने अचल, निजातम की निधि जान।
निरावरण हो, एक साथ ही, जान रहा पर दोष रहित
यही सार पुरुषार्थ रहा है योगी जन को मान्य मुदित॥ 4॥

अन्वयार्थ : [परं तपः] उत्कृष्ट तप को [उपश्चितस्य] करने वाले [भवतः] आपको [केवलं] केवलज्ञान [अभवत्] हुआ [समस्तविषयं] जो समस्त विषयवाला है [निरक्षं] इन्द्रियरहित है [अपुनश्च्युति] पुनश्च्युति से रहित है [स्वात्मजं] अपने आत्मा से उत्पन्न है [निरावरणं] आवरण रहित है [अक्रमं] क्रमरहित है [व्यतिकरात् अपेतात्मकं] व्यतिकर से रहित है [तदेव] वह ही

[पुरुषार्थसारं] पुरुषार्थ का सार [योगिनां] योगियों को [अभिसम्मतं] मान्य है।

अर्थ : हे भगवन्! आपने उत्कृष्ट तपश्चरण को धारण करके केवलज्ञान की प्राप्ति की। यह केवलज्ञान ही सभी पुरुषार्थों का सार है। सभी योगियों ने आपके केवलज्ञान को स्वीकारा है। वह केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों और गुणों को जानता है, इसलिए समस्त को विषय बनानेवाला है। वह केवलज्ञान इन्द्रिय, मन से रहित होता है, इसलिए निरक्ष है। उस केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद पुनः उसका कभी भी अभाव नहीं होता है, इसलिए वह अपुनश्च्युति है। वह ज्ञान अपनी आत्मा से कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है इसलिए स्वात्मज है। वह केवलज्ञान कर्मों के आवरण से रहित निरावरण होता है। उस केवलज्ञान में समस्त विषय अक्रम से एकसाथ उपस्थित रहते हैं। आपके केवलज्ञान में सभी पदार्थ एक साथ दिखते हुए भी परस्पर में मिलकर एक दूसरे के धर्म को ग्रहण नहीं करते हैं। 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' परस्पर में एक दूसरे के धर्मों को ग्रहण करना व्यतिकर दोष है। आपका ज्ञान इस व्यतिकर दोष से रहित हैं। व्यतिकर के साथ संकर का भी ग्रहण करना चाहिए। 'सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः संकरः' सभी की एक साथ प्राप्ति संकर है, आपका ज्ञान इन दोनों दोषों से रहित है।

॥ जिनशासन की स्तुति ॥

परस्परविरोधवद्-विविधभङ्गशाखाकुलं
पृथग्जनसुदुर्गमं तव निरर्थकं शासनम्।
तथापि जिन! सम्मतं सुविदुषां न चात्यद्भुतं
भवन्ति हि महात्मनां दुरुदितान्यपि ख्यातये ॥ 5 ॥

विविध भंग विपरीत धर्म के तव शासन में सुलझ रहे
मूर्ख लोग ही हे भगवन्! जिन, वाणी सुनकर उलझ रहे।
फिर भी ज्ञानीजन को जिनवर जिनशासन ही स्वीकृत है
दुष्ट वचन भी ख्याति दिलाते महापुरुष के, अद्भुत है॥ 5॥

अन्वयार्थ : [तव] आपका [शासनं] शासन [परस्परविरोधवद्-विविध-भङ्गशाखाकुलं] परस्पर विरोधवाले अनेक भङ्गों की शाखाओं से युक्त है [पृथग्जनसुदुर्गमं] मूर्ख जनों को अति दुर्गम है [निरर्थकं] और निरर्थक है [तथापि] फिर भी [जिन!] हे जिन! [सुविदुषां] श्रेष्ठ ज्ञानवानों को [सम्मतं] अच्छी तरह स्वीकृत है। [अत्यद्भुतं] अति आश्चर्य [न च] इसमें नहीं है [महात्मनां] महात्माओं के [दुरुदितानि अपि] कठिन वचन भी [हि] निश्चित ही [ख्यातये] प्रसिद्धि के लिए [भवन्ति] होते हैं।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! आपका शासन परस्पर में विरोध लगने वाले अनेक प्रकार के भंगों की शाखाओं से भरा है। वस्तु कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, इस तरह विरोधी धर्मों से भरा हुआ आपका शासन रूपी वृक्ष मूर्ख, असभ्य जनों से जानने में नहीं आता है। इसलिए उनके लिए आपका शासन निष्फल है। आपके शासनरूपी वृक्ष पर जब सामान्य जन चढ़ने में असमर्थ हैं, तो उन्हें फल की प्राप्ति न होने से वह शासन उनके लिए निरर्थक ही रहता है। आपका शासन श्रेष्ठ विद्वानों को मान्य है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ठीक है, महात्माओं के कठिन, दुरुह वचन भी निश्चित ही ख्याति के लिए होते हैं। 'यदि श्रेष्ठ आत्माओं के वचन समझ में न भी आयें तो भी उनके वचन उनकी प्रसिद्धि के लिए होते हैं' यह कहावत भी आपके ऊपर चरितार्थ होती है। दुरुदित का दूसरा अर्थ भला-बुरा कहना भी

होता है। महात्माओं की भली-बुरी सभी बातें उनकी कीर्ति के लिए होती हैं।

॥ असंगत तथ्य भी आपमें संगत हैं॥

सुरेन्द्र-परिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं
तथातपनिवारण- त्रयमथोल्लसच्चामरम्।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते॥ 6॥

अतिविशाल बहुमूल्य बना है सुर निर्मित प्रभु का आसन
तीन छत्र चौंसठ चामर से शोभित अद्भुत समवसरण।
तीन लोक का वशीकरण है फिर भी कहलाते निःसंग
समझ नहीं आता, लगता है वीतरागता का यह ढंग॥ 6॥

अन्वयार्थ : [सुरेन्द्रपरिकल्पितं] सुरेन्द्र के द्वारा बनाया हुआ [बृहद्-अनर्घ्य-सिंहासनं] विशाल, बहुमूल्य सिंहासन [तथा] तथा [आतपनिवारणत्रयं] छत्रत्रय [अथ] और [उल्लसच्चामरम्] ढुरते हुए चामर [च] तथा [भुवनत्रयं वशं] तीन लोक का वश में होना [च] फिर भी [निरुपमा] अनुपम [निःसंगता] निष्परिग्रहता है। [इदं] यह [द्वयं] दोनों बातें [संगतं] संगत [न] नहीं हैं [तथाऽपि] फिर भी [त्वयि] आपमें [संगच्छते] उचित हैं।

अर्थ : हे भगवन्! आपका सिंहासन बड़ा विशाल और बहुमूल्य होता है, जो कि देवेन्द्रों के द्वारा रचा जाता है। आपके ऊपर तीन छत्र सदैव शोभायमान रहते हैं और अति-उज्ज्वल चमर आपके दोनों ओर देव लोग ढोरते हैं। समवसरण सभा में प्राणीगण मन्त्रमुग्ध हो आपको देखते रहते हैं। इस तरह आपने तीन लोक को ही वश में कर रखा है। तीन लोक के जीव आपको मानते हैं, आपके वश

में रहते हैं। इतना संग होने पर भी आप निःसंग हैं। आपकी यह निःसंगता अद्वितीय है। सब कुछ आपके पास है, फिर भी निष्परिग्रही हैं, यह दोनों बातें असंगत होते हुए भी आपमें संगत हैं। समवसरण की विशाल लक्ष्मी और अन्तरंग में वीतरागता, किसी से रागभाव नहीं, फिर भी तीन लोक आपके वश में है, ये गुण विरोधाभास अलंकार में आपमें ही देखे जाते हैं।

॥ समस्त जीवों के रक्षक आप ही हैं॥

त्वमिन्द्रियविनिग्रह-प्रवणनिष्ठुरं भाषसे
तपस्यपि च यातयस्य-नघदुष्करे संश्रितान्।
अनन्य-परिदृष्टया षडसु-कायसंरक्षया-
स्वनुग्रहपरोऽ-प्यहो त्रिभुवनात्मनां नापरः॥ 7॥

इन्द्रिय निग्रह करो आपका उपदेशामृत निष्ठुर है
पापरहित तप में रत मुनि को संयम पालन रुचिकर है।
सब आतम को अपना मानो सब जीवों पर दया करो
आप अनुग्रह अपना करते जगरक्षक भी आप अहो॥ 7॥

अन्वयार्थ : [त्वं] आप [इन्द्रिय-विनिग्रह-प्रवण-निष्ठुरं] इन्द्रियनिग्रह में प्रवण होने की निष्ठुरता [भाषसे] कहते हो [च] और [अनघदुष्करे] पापरहित कठिन [तपसि] तप में [संश्रितान्] स्थित जीवों को [अपि] भी [यातयसि] परेशान करते हो [अहो!] आश्चर्य है कि [अनन्यपरिदृष्टया] समान दृष्टि से [षडसुकाय-संरक्षयासु] छह काय के जीवों की रक्षा में [अनुग्रहपरः अपि] अनुग्रह से तत्पर होकर भी [त्रिभुवनात्मनां] तीन लोक की आत्माओं का [अपरः] अन्य [न] अनुग्रह करनेवाला नहीं है।

अर्थ : हे भगवन्! आप उपदेश में कहते हो कि इन्द्रियों का निग्रह

करो। इन्द्रियों के विषय में प्रवृत्ति मत करो। इन्द्रियों का विषयों से दूर होना ही इन्द्रिय-दमन है। इन्द्रिय-दमन में कुशल बनो। आपके यह वचन बड़े कठोर हैं, निष्ठुर हैं। आपके वचन कठोर होकर भी जीवों का हित करते हैं, इसलिए आप सभी प्राणियों पर वास्तविक अनुग्रह करते हैं। आपके मत में दीक्षित जो श्रमण पाप-रहित होकर कठिन तप करते हैं, वे श्रमण भी मात्र तप नहीं करते हैं, अपितु सभी जीवों को समान दृष्टि से देखकर उनकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। यहाँ पर स्तुतिकार भगवान् से कहते हैं कि हे भगवन्! आप संयम में तत्पर रहने का जो उपदेश देते हैं, उस संयम-पालन में कष्ट होते हुए भी जीवों की रक्षा होती है। आश्चर्य तो यह है कि छह काय के जीवों में अनुग्रह होता है। उससे तीन लोक की आत्माओं का अनुग्रह भी होता है। ऐसा अनुग्रह करनेवाला आपसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है। आपके मत में ही वास्तव में सभी जीवों की रक्षा होती है।

॥ सुख और दुःख प्रदाता आप ही हैं ॥

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरे-ष्वतुष्यन्नपि
क्षिपस्य-कुपितोऽपि च ध्रुव-मसूयकान् दुर्गतौ।
न चेश! परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृति-माश्रितो मध्यमाम्॥ 8॥

कभी नहीं सन्तुष्ट हुए हो संस्तुति से पर सुख देते
कुपितमना भी कभी हुए ना निन्दा से पर दुःख देते।
रहे सदा मध्यस्थ आप जिन! कुछ करते ना सब करते
परमेष्ठी पद का यह विस्मय सुधीजनों का मन हरते॥ 8॥

अन्वयार्थ : [स्तुतिपरेषु] स्तुति में तत्पर रहने वालों में आप

[अतुष्यन् अपि] सन्तुष्ट नहीं होकर भी [अनुपमं सुखं] अनुपम सुख [ददासि] देते हो [च] तथा [अकुपितः अपि] कुपित हुए बिना भी [ध्रुवम्] निश्चित ही [असूयकान्] ईर्ष्या करने वालों को [दुर्गतौ] दुर्गति में [क्षिपसि] रख देते हो। [ईश!] हे ईश्वर! [तव] आपकी [परमेष्ठिता] परमेष्ठिता [न च विरुध्यते] विरोध को प्राप्त नहीं होती है [यत्] क्योंकि [भवान्] आप [न कुप्यति] न क्रोध करते हैं [न] और न [तुष्यति] सन्तुष्ट होते हैं [मध्यमां प्रकृतिं] आप मध्यम प्रकृति का [आश्रितः] आश्रय लिये हो।

अर्थ : हे ईश्वर! आपकी परमेष्ठिता अद्वितीय है कि आप स्तुति करनेवालों से सन्तुष्ट नहीं होते हैं, फिर भी आप उन्हें अनुपम सुख दे देते हो। आप क्रोध नहीं करते हो, फिर भी जो आपसे ईर्ष्या, द्वेष रखने वाले हैं, उनको दुर्गति में रख देते हो। हे ईश! आप न किसी पर क्रोध करते हो, न सन्तुष्ट होते हो और मध्यम प्रकृति उदासीनपने को धारण करते हो, फिर भी ऐसा करते हो, इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस तरह भक्ति में भगवान् का कर्त्तापन भक्त आरोपित करके भक्ति करता है, उसी तरह यहाँ स्तुतिकर्त्ता ने किया है। भगवान् आपकी भक्ति से जीव सुगति को प्राप्त होता है, आपकी निन्दा से दुर्गति को प्राप्त होता है, लेकिन आप किसी से राग-द्वेष नहीं करते हो। यह कथन व्यवहार नय से भगवान् के कर्तापन को दिखाकर किया गया है। जब व्यवहार से भगवान को तारने वाले कह सकते हैं तो उन्हें नरकादि में पहुँचाने वाले भी कहा जा सकता है। 'अंजन से तारे प्रभु' इस तरह न्याय तो दोनों ओर ही लगता है/लगाना चाहिए। स्वयम्भूस्तोत्र में भी कहा है-

"सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम्॥"

आपसे मित्रता रखनेवाला सौभाग्य को प्राप्त करता है। आपमें

द्वेष रखनेवाला प्रत्यय के समान विनष्ट हो जाता है। आप दोनों जीवों में उदासीन हैं। हे प्रभो! आपकी चेष्टायें विचित्र हैं।
इस छन्द में ईश्वर का प्रभाव व्यवहार से आरोपित किया गया है।

॥ अतीन्दिय्र ज्ञानी की स्तुति॥

परिक्षपित-कर्मणस्तव न जातु रागादयो
न चेन्द्रिय-विवृत्तयो न च मनस्कृता व्यापृतिः।
तथापि सकलं जगद् युगपदञ्जसा वेत्सि च
प्रपश्यसि च केवला-भ्युदितदिव्य-सच्चक्षुषा॥9॥

क्षीण कर्म भगवान आपके पास नहीं रागादिक हैं
इन्द्रिय का कुछ काम नहीं है मन भी पर निर्बाधित है।
सकल जगत के सकल पदारथ एक साथ सब जान रहे
केवलज्ञान उदित चक्षु से निज-पर का सब ज्ञान गहे॥ 9॥

अन्वयार्थ : [तव] आप [परिक्षपिकर्मणः] क्षीण कर्म भगवान् के पास [रागादयः] राग आदि [न जातु] कुछ भी नहीं है [इन्द्रियविवृत्तयः] इन्द्रियों की वृत्तियाँ [न च] नहीं हैं [न च] और न ही [मनस्कृता] मन से की गई [व्यापृत्तिः] प्रवृत्ति है [तथाऽपि] फिर भी [सकलं जगत्] सम्पूर्ण संसार को [युगपत्] एक साथ [अञ्जसा] स्पष्ट रूप से [वेत्सि च] जानते हो [च] और [केवलाभ्युदित-दिव्य-सच्चक्षुषा] केवलज्ञान के द्वारा उदित हुए दिव्य समीचीन चक्षु के द्वारा [प्रपश्यसि] देखते हो।

अर्थ : अरहंत भगवान् के चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से राग आदि का अभाव होता है। कर्म का क्षय हो जाने से इन्द्रियावरणी कर्म का भी विनाश हो जाता है। द्रव्य इन्द्रियाँ बाहर से दिखती हैं, परन्तु कोई कार्य नहीं करती हैं, क्योंकि भावेन्द्रिय का अभाव हो

जाता है। स्वयम्भू स्तोत्र में भी कहा है-'बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।' [129] अर्थात् बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ न तो आपको बाधक हैं और न ही कुछ कार्य करनेवाली हैं। इन्द्रियों के अतिरिक्त मन से किया गया व्यापार भी आपके नहीं होता है। इन्द्रिय, मन की सभी प्रवृत्तियों के अभाव में भी आश्चर्य है कि आप सम्पूर्ण जगत् को एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हो और देखते हो। आपके केवलज्ञान रूपी दिव्य चक्षु के द्वारा यह जानना, देखना निर्बाध रूप से होता रहता है। इस तरह पूर्वोक्त श्लोक में जो यह बताया था कि आप अनुपम सुख और दुर्गति देते हो, इसमें कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि आप वीतराग हैं।

॥ आप मुनि सम्प्रदाय से संस्तुत्य हैं॥

क्षयाच्च रतिराग-मोहभय-कारिणां कर्मणां
कषायरिपु-निर्जयः सकल-तत्त्वविद्योदयः।
अनन्य-सदृशं सुखं त्रिभुवना-धिपत्यं च ते
सुनिश्चितमिदं विभो! सुमुनि-संप्रदायादिभिः॥ 10॥

राग, मोह, रति, भय, इच्छाएँ जिन कर्मों से होती हैं
उन कर्मों का कारण कालुष क्रोधादिक को जीती हैं।
सकल तत्त्व का ज्ञान हुआ है अतुलनीय सुख प्राप्त हुआ
तीन लोक का स्वामीपन भी विज्ञजनों को मान्य हुआ॥ 10॥

अन्वयार्थ : [रतिरागमोहभयकारिणां] रति, राग, मोह और भय करने वाले [कर्मणां] कर्मों के [क्षयात्] क्षय से [कषाय-रिपु-निर्जयः] आपने कषाय शत्रुओं को जीत लिया [च] और [सकलतत्त्व-विद्योदयः] समस्त तत्त्वविद्या का उदय हुआ है।

[विभो!] हे विभो! [ते] आपका [अनन्यसदृशं] अतुलनीय [सुखं] सुख [च] और [त्रिभुवनाधिपत्यं] तीन लोक का आधिपत्य [सुमुनि-सम्प्रदायादिभिः] श्रेष्ठ मुनियों के सम्प्रदाय आदि के द्वारा [इदं] यह [सुनिश्चितम्] अच्छी तरह निश्चित है।

अर्थ : भगवान् की आत्मा में समस्त तत्त्वों को जानने वाली विद्या का उदय हुआ है। केवलज्ञान सम्पूर्ण विद्या कहलाता है। कषाय-शत्रुओं को जीतने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। रति, राग, मोह, भय आदि उत्पन्न करनेवाले कर्म को जीतने पर कषाय की विजय होती है। हे विभो! आपको केवलज्ञान के साथ ऐसा अतुलनीय, अनन्त सुख प्राप्त हुआ है जो अन्य के पास नहीं है और आप जैसा तीन लोक का आधिपत्य अन्यत्र नहीं दिखाई देता है। कहा भी है-

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अणिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि॥ 19॥

अर्थ – घातिया कर्मों के नाश से अनन्तवीर्य और तेज से अधिक भगवान् अतीन्द्रिय होते हैं और ज्ञान तथा सुख में एक साथ परिणमन करते हैं।

श्रेष्ठ मुनियों के सम्प्रदाय अर्थात् परम्परा से आपका केवलज्ञान, अनन्त सुख और तीन लोक का स्वामित्व अच्छी तरह मान्य है। आदि शब्द से परम्परागत श्रुतज्ञान आदि के द्वारा निश्चित होना स्वीकृत है।

॥ भगवान् के वचन भी परमेष्ठिता के द्योतक हैं॥

न हीन्द्रियधिया विरोधि न च लिङ्गबुद्ध्या वचो
न चाप्यनुमतेन ते सुनय-सप्तधा योजितम्।

व्यपेत-परिशङ्कनं वितथकारणा-दर्शना-
दतोपि भगवंस्त्वमेव परमेष्ठितायाः पदम्॥ 11॥

वचन आपके मतिज्ञान से कभी नहीं बाधित होते
श्रुतज्ञान, अनुमान ज्ञान से निर्विरोध नयमय होते।
झूठ बोलने का कारण भी बचा नहीं सन्देह नहीं
इसीलिए तो परमपूत पद, के लायक हो आप सही॥ 11॥

अन्वयार्थ : [ते] आपके [वचः] वचन [इन्द्रियधिया] इन्द्रिय ज्ञान से [विरोधि] विरुद्ध [न हि] नहीं है [लिङ्गबुद्ध्या] लिंगज्ञान से भी विरुद्ध नहीं है [अनुमतेन] अनुमान ज्ञान से [अपि] भी [न च] विरुद्ध नहीं हैं [सुनयसप्तधा] समीचीन सात प्रकार के नयों से [योजितम्] युक्त हैं [अतः] इसलिए [वितथकारणादर्शनात्] असत्य का कारण नहीं दिखने से [व्यपेत परिशङ्कनम्] शङ्का से रहित हैं [अपि] भी [भगवन्] हे भगवन्! [त्वं एव] आप ही [परमेष्ठितायाः] परमेष्ठिता के [पदम्] स्थान हैं।

अर्थ : यहाँ भगवान् के वचनों की निर्दोषता से भगवान् की निर्दोषता को दिखाते हैं। इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है। इस परोक्ष इन्द्रियज्ञान से भी भगवान् के वचन विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। लिंगज्ञान और अनुमान ज्ञान से भी आपके वचन विरुद्ध नहीं होते हैं। आपके वचन सात प्रकार के नयों से युक्त रहते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत नय ये सात नय हैं। आपके वचनों में नयों का कथन इस तरह रहता है कि उसमें कोई सन्देह नहीं रहता है। आपके वचनों से शंका, सन्देह दूर हो जाता है। क्योंकि उनमें असत्य का कोई कारण नहीं देखा जाता है। असत्य के कारण रति, राग, द्वेष, मोह, भय, क्रोध आदि हैं। भगवान् में इन सबका अभाव होता है, इसलिए असत्य नहीं होता है। हे भगवन्!

आपके वचन निर्दोष होने से ही आप परमेष्ठिता के पद पर प्रतिष्ठित हैं।

॥ भगवान् की निर्दोषता का कथन॥

न लुब्ध इति गम्यसे सकलसङ्ग-संन्यासतो
न चापि तव मूढता विगतदोषवाग्यद्भवान्।
अनेकविध-रक्षणा-दसुभृतां न च द्वेषिता
निरायुधतयापि च व्यपगतं तथा ते भयम्॥ 12॥

आप परिग्रह रहित बने हैं, नहीं आपको कोई लोभ
वचन आपके दोष रहित हैं, नहीं मूढपन कोई क्षोभ।
रक्षा करते सभी जीव की, द्वेष नहीं है, घृणा नहीं
अस्त्र शस्त्र बिन सदा रहे हो भय का भी कुछ काम नहीं॥12॥

अन्वयार्थ : [सकल-सङ्ग-संन्यासतः] समस्त परिग्रह के सन्यास से आप [लुब्धः] लुब्ध [न] नहीं हैं [इति] इस प्रकार [गम्यसे] जाने जाते हो [यत्] चूँकि [भगवान्] आप [विगतदोषवाक्] वचन के दोषों से रहित हैं इसलिए [तव] आपके [मूढता] मूढ़ता [न च अपि] भी नहीं है। [असुभृतां] प्राणियों की [अनेक-विध-रक्षणात्] अनेक प्रकार की रक्षा करने से [द्वेषिता] द्वेषपना [च न] नहीं है। [तथा] तथा [निरायुधतया अपि च] आयुध से रहित होने से भी [ते] आपका [भयं] भय [व्यपगतं] चला गया है, यह जाना जाता है।

अर्थ : हे भगवन्! आपमें लोभ, लालच, लुब्धता नहीं है, क्योंकि आपने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है। हे भगवन्! आपमें मूढता का अभाव है, क्योंकि व्यक्ति की मूढता वचनों से जानी जाती है और आपके वचन सभी प्रकार के दोषों से रहित हैं। इसका

स्पष्टीकरण पूर्व के श्लोक में किया ही है। हे भगवन्! आपके भीतर किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष, घृणा नहीं है, क्योंकि आप सभी जीवों की अनेक प्रकार से रक्षा करते हैं। हे भगवन्! आप अस्त्र, शस्त्र आयुधों से रहित हैं, इससे जाना जाता है कि आप भय-रहित हैं। चैत्यभक्ति में भी कहा है- 'निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्'। अर्थात् हिंस्य-हिंसा के भाव से रहित होने के कारण आप निरायुध होकर भी निर्भय रहते हैं।

॥ पुनर्जन्म की सिद्धि ॥

यदि त्वमपि भाषसे वितथमेवमाप्तोऽपि सन्
परेषु जिन! का कथा प्रकृतिलुब्ध-मुग्धादिषु।
न चाप्यकृत-कात्मिका वचनसंहति-र्दृश्यते
पुनर्जनन-मप्यहो! नहि विरुध्यते युक्तिभिः ॥ 13 ॥

वीतराग प्रभु आप वचन भी यदि असत्य सम्भव होवें
फिर किस पर विश्वास करें जो, लोभी मूढ मति होवें।
आतम के पुरुषार्थ बिना तो वचन समूह नहीं बनते
पुनर्जन्म भी मान्य रहा है तर्क युक्तियों से घटते॥ 13॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [त्वम्] आप [अपि] भी [आप्तः अपि सन्] आप्त होकर भी [एवं वितथं] इस प्रकार असत्य [भाषसे] कहने लगे तो [जिन] हे जिनेन्द्र भगवन्! [परेषु] अन्य [प्रकृतिलुब्ध-मुग्धादिषु] स्वभाव से लुब्ध, मुग्ध आदि जनों की [का कथा] क्या बात हो? [च] और [अकृतकात्मिका] स्वयं उत्पन्न हुआ [अपि] भी [वचनसंहतिः] वचनों का समूह [न दृश्यते] नहीं देखा जाता है। [अहो!] आश्चर्य है कि [पुनर्जननम् अपि] पुनर्जन्म भी [युक्तिभिः] युक्तियों के द्वारा [विरुध्यते न हि] विरोध प्राप्त नहीं है।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! यदि आप जैसे राग, मोह, द्वेष आदि से रहित आप्तपुरुष भी असत्य कहने लगे या यदि आप जैसे आप्त पुरुष के वचन भी असत्य हो गए तो अन्य लोगों की क्या बात? जो लोग स्वभाव से लोभी हैं, पर पदार्थों में मूर्च्छित हैं, मुग्ध हैं, मूढ हैं, रागी-द्वेषी हैं, उनके वचन कैसे सत्य हो सकते हैं? ऐसे स्थिति में जगत् में कोई सत्य वक्ता मिलेगा ही नहीं। आप्त पुरुष के अलावा किसी के वचनों में सत्यता, प्रामाणिकता नहीं आ सकती है। वक्ता की प्रामाणिकता से ही वचनों की प्रामाणिकता, सत्यता का ज्ञान होता है। यदि कहो कि वचन-रचना अपौरुषेय है अर्थात् इसके लिए किसी पुरुष-विशेष की आवश्यकता नहीं है, यह अकृतक है तो यह कहना भी गलत है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वचन पद्धति कभी भी अकृतक नहीं देखी जाती है। हे आप्त! आपके वचनों में जीव का पुनर्जन्म का कथन है, वह पुनर्जन्म अवश्य होता है, उसे किसी भी युक्तियों से गलत नहीं ठहराया जा सकता है। पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त आपके वचनों में होते हुए भी आपने पुनर्जन्म से रहित होने का सिद्धान्त भी कहा है, यह सब अविरुद्ध है जो आपके द्वारा ही सम्भव है।

॥ श्रुति पौरुषेय है ॥

सजन्म-मरणर्षि-गोत्र-चरणादिनाम-श्रुते-
रनेकपद-संहति-प्रतिनियामसन्दर्शनात्।
फलार्थि-पुरुषप्रवृत्ति-विनिवृत्ति-हेत्वात्मनां
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषदर्तृकैव श्रुतिः॥ 14॥

जन्म मरण से सहितपना औ ऋषि के नाम आदि का ज्ञान
पदरचना जो अर्थ बताती नियत विषय का जिससे जान।
फल वाञ्छित आतम की वृत्ति श्रुति से यदि हो जाती है

पुरुष बिना यह कैसे सम्भव मनु ने ज्यों रचना की है॥ 14॥

अन्वयार्थ – [सजन्म-मरणर्षि-गोत्र-चरणादिनाम-श्रुतेः] जन्म, मरण से सहित ऋषियों के गोत्र, आचरण आदि नाम का सुनना और [अनेकपद-संहति-प्रतिनियाम-सन्दर्शनात्] अनेक पदसमूह का प्रतिनियम देखा जाने से [फलार्थि-पुरुषप्रवृत्ति-विनिवृत्ति-हेत्वात्मनां] फल के इच्छुक पुरुष की प्रवृत्ति और विनिवृत्ति के हेतुभूत आत्माओं को [श्रुतेः] श्रुति से होती है [च मनुसूत्रवत्] मनुसूत्र की तरह [श्रुतिः] श्रुति [पुरुषकर्त्तृका इव] पुरुषकर्तृक है।

अर्थ : श्रुति वेदवाक्यों को कहते हैं। जो लोग वेदों के वाक्यों को अपौरुषेय कहते हैं, उनके लिये यहाँ निराकरण करते हुए कहा है कि जिन वाक्यों में जन्म, मरणपना, ऋषियों के नाम, उनके आचरण आदि नामों का सुनना है, तो वह वाक्य संघटना अनेक पदों से मिलकर बनी है। वाक्य रचना अपौरुषेय नहीं होती है। अपौरुषेय का अर्थ हुआ कि इस श्रुति का कोई व्याख्याता पुरुष नहीं है। ऐसी स्थिति में इस वाक्य का यही अर्थ है इस तरह का प्रतिनियम नहीं बन सकता है, जबकि श्रुति के अर्थ का निश्चित अर्थ देखा जाता है। फल को चाहने वाले पुरुष की प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणभूत आत्माओं को श्रुति से ज्ञान होता है। पुरुष की प्रवृत्ति, निवृत्तिरूप क्रियाओं के अभाव में श्रुति सद्रूप नहीं हो सकती है। श्रुति के वचन किसी न किसी कर्ता की अपेक्षा रखते ही हैं, क्योंकि वह ध्वनि नहीं है। ध्वनि भी यदि प्रतिनियत अर्थ की अभिव्यक्ति करती है तो उसमें भी दृश्य या अदृश्य कर्ता पुरुष की आवश्यकता होती है। इसलिये जो वचन हैं, वह पौरुषेय हैं क्योंकि वर्णात्मक पद रचना सहित हैं, जैसे मनुसूत्र। 'मनुस्मृति' ग्रन्थ जिस प्रकार मनु का रचा हुआ है, उसी तरह वेदवचन भी किसी पुरुषकृत हैं, पौरुषेय हैं।

॥ परलोक की सिद्धि ॥

स्मृतिश्च परजन्मनः स्फु ट-मिहेक्ष्यते कस्यचित्
तथाप्तवचनान्तरात्-प्रसृतलोकवादादपि।
न चाप्यसत उद्भवो न च सतो निमूलात्क्षयः
कथं हि परलोकिना-मसुभृता-मसत्तोह्यते॥ 15॥

किसी जन्म की स्मृति वाले लोग यहाँ देखे जाते
आप्त वचन से लोक वचन से भी ऐसा कुछ जन गाते।
असत वस्तु का जन्म न होता सत का भी उत्पाद नहीं
इसीलिए तो अन्य लोक में प्राणी का सद्भाव सही॥ 15॥

अन्वयार्थ : [कस्यचित्] किसी को [परजन्मनः] परजन्म की [स्मृतिः] स्मृति [च स्फुटं] स्पष्ट रूप से [इह] इस लोक में [ईक्ष्यते] देखी जाती है [तथा] उसी प्रकार [आप्तवचनान्तरात्] आप्त के वचनान्तर से और [प्रसृतलोकवादात् अपि] प्रचलित लोकवाद से भी देखा जाता है [असतः] असत् का [उद्भवो] जन्म [न च] नहीं होता है [च] और [सतः] सत् का [निमूलात्] मूल से [क्षयः न] विनाश नहीं होता है [हि] इसलिए [परलोकिनां असुभृतां] परलोक के प्राणियों की [असत्ता] असत्ता [कथं] कैसे [ऊह्यते] विचारी जा सकती है?

अर्थ : पुनर्जन्म होता है, क्योंकि ऐसे प्राणी भी देखे जाते हैं जिनको पर जन्म की स्मृति होती है। पुनर्जन्म आप्त भगवान् के वचनों में गर्भित है और जो लोक में वार्ता प्रचलित है, उससे भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है। देखो! बन्धो! जो पदार्थ है नहीं, उसका कभी उत्पाद नहीं होता है। यदि परलोक में भी जीव हैं तो वे जीव वहाँ पे कोई नये उत्पन्न नहीं हो गये हैं। यदि कहो के वे वहीं पर हमेशा रहते हैं तो यह बात भी गलत होगी, क्योंकि कोई भी जीव सदैव एक ही

गति में नहीं रह सकता है। इसके अलावा यह भी सिद्धान्त है कि सत् पदार्थ का मूल से नाश नहीं होता है। यदि किसी जीव का मरण यहाँ देखा जाता है तो वह गया कहाँ? क्या उसका पूर्णतः अभाव हो गया? नहीं, उसका अभाव कभी हो नहीं सकता है। इस सत्, असत् के सिद्धान्त से परलोक में भी जीव जाता है। परलोक की भी सत्ता है, यह जाना जाता है, फिर परलोक में प्राणियों का अभाव या पुनर्जन्म का अभाव कैसे विचारा जा सकता है? अर्थात् इस विषय में अधिक विचार की आवश्यकता नहीं है।

॥ चार्वाक मत खण्डन॥

न चाप्यसदुदीयते न च सदेव वा व्यज्यते
सुराङ्गमदवत्तथा शिखिकलापवैचित्र्यवत्।
क्वचिन्मृतकरन्धनार्थपिठरादिके नेक्ष्यते
कथं क्षितिजलादिसङ्गगुण इष्यते चेतना॥ 16॥

जिसकी सत्ता नहीं नहीं वह जो है वह ही रहता है
जैसे मादक द्रव से मदिरा शिखि कलाप सुन्दरता है।
मृतक जीव को कहीं पकाओ जीव नहीं बन सकता है
पृथिवी, जल आदिक मिलने से, क्या चेतन बन सकता है॥16॥

अन्वयार्थ : [असत्] असत्तारूप पदार्थ [उदीयते न च अपि] उदय को भी प्राप्त नहीं होता है [च वा] अथवा [सत् एव] सत् पदार्थ ही [न व्यज्यते] प्रकट नहीं रहता है। [सुराङ्गमदवत्] शराब के अवयव से मद की तरह [तथा] तथा [शिखिकलाप-वैचित्र्यवत्] मयूर के पंखों की विचित्रता की तरह [क्वचित्] कभी भी [मृतक-रन्धनार्थ-पिठरादिके] मृतक को पकाने के लिए किसी बर्तन आदि में जीव [न ईक्ष्यते] नहीं देखा जाता है [कथं] फिर कैसे

[क्षितिजलादिसङ्गगुणः] पृथिवी, जल आदि की संगति का गुण [चेतना] चेतना [इष्यते] स्वकारी जाय?

अर्थ : जो पदार्थ नहीं है उसका कभी उत्पाद नहीं होता है जो है वह भी सदा प्रकट नहीं रहता है क्योंकि उसकी पर्याय बदलती रहती है। इसके लिए शराब बनाने वाले पदार्थों से मदशक्ति उत्पन्न होने का उदाहरण है। चार्वाक मानता है कि जिस प्रकार मादक पदार्थों के सम्मिश्रण से मदशक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा हो तो किसी मुर्दे को किसी बर्तन में रांधा जाय, तो क्या उसमें जीव उत्पन्न हो जाएगा? नहीं होगा। इसी प्रकार पृथिवी, जल आदि के संग से चेतना की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? पृथिवी आदि में चेतना नहीं है, तो उनसे चेतना की उत्पत्ति भी नहीं होती है, क्योंकि असत् का उत्पाद नहीं होता है। जो सत् है, वही दिखता है। जैसे मयूर के पंखों की विचित्रता है, इसलिए प्रकट दिखाई देती है। कोई अलग से आकर उन पंखों के रंगों का वैचित्र्य नहीं बन जाता है। जो है वही दिखाई देता है। चेतना है तो प्रकट होगी, नहीं है तो प्रकट नहीं होती है। चेतना शक्ति जीव की, आत्मा की अपनी स्वतन्त्र शक्ति है, वह किसी संयोग से उत्पन्न नहीं होती है।

॥ आपका रूप आनन्ददायक है ॥

प्रशान्तकरणं वपुर्विगतभूषणं चापि ते
समस्तजनचित्तनेत्र-परमोत्सवत्वं गतम्।
विनायुधपरिग्रहाज्जिन! जितास्त्वया दुर्जयाः
कषायरिपवोऽपरैर्न तु गृहीत-शस्त्रैरपि॥ 17॥

हे जिनवर! तव मुख की आकृति अति प्रशान्त भी मन हरती
आभूषण से रहित देह भी नयनों में खुशियाँ भरती।

शस्त्रग्रहण करनेवाले भी जिनको जीत नहीं पाये
उन कषाय रिपुओं पर कैसे सहज आप प्रभु जय पाये॥ 17॥

अन्वयार्थ : [ते] आपका [वपुः] शरीर [प्रशान्तकरणं] प्रशान्त इन्द्रियवाला है [च] और [विगतभूषणं] आभूषण से रहित है [अपि] तो भी [समस्तजन-चित्त-नेत्रपरमोत्सवं] सभी जनों के चित्त और नेत्र को अत्यधिक आनन्दपने को [गतं] प्राप्त हुआ है [जिन] हे जिनेन्द्र! [त्वया] आपने [आयुध-परिग्रहात्] अस्त्र ग्रहण के बिना ही [दुर्जयाः] दुर्जय [कषाय-रिपवः] कषायरूपी शत्रुओं को [जिताः] जीता है [तु] किन्तु [परैः] अन्य [गृहीतशस्त्रैः] शस्त्रग्रहण करने वालों ने [अपि] भी [न] नहीं जीता है।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! आपके शरीर की पाँचों ही इन्द्रियाँ बहुत शान्त हैं। आपके शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, कोई चन्दन, कुंकुम आदि सज्जा नहीं है। अत्यन्त शान्त और भूषणरहित होकर भी आप सभी लोगों के चित्त और नेत्र में परम उत्सव को प्राप्त हुए हों। अर्थात् आपको देखने से मन और नेत्रों को परम आनन्द मिलता है, यह बड़ी विचित्र बात है। इसके अतिरिक्त हे जिन! आपके पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं हैं, फिर भी आपने कषायरूपी शत्रुओं को जीत लिया, किन्तु जो शस्त्र धारण किये हैं, वे लोग भी कषाय-शत्रुओं को नहीं जीत पाये, यह बड़ा विस्मय है।

अरिहन्त भगवान् की यह विशेषता है, कि वे किसी को देखते नहीं, सुनते नहीं हैं, जिससे उनकी पाँचों इन्द्रियाँ विकार-रहित हैं। लोक में देखा जाता है कि शरीर में अनेक विकार और क्रिया से लोग सुन्दरता दिखाते हैं, परन्तु हे भगवन्! आप तो इन विकारों और साज-संवार से रहित होकर भी परम आनन्द प्रदान करते हैं। स्तुतिकार ने यहाँ आश्चर्य व्यक्त किया है कि ऐसी स्थिति

में आपने कषायों को कैसे जीता? वस्तुतः यहाँ आश्चर्य भी व्यक्त किया है और उत्तर भी दिया है कि भगवन्! कषायें तो शान्त भावों से ही जीती जाती हैं, अस्त्र-शस्त्र से नहीं।

॥ भगवान् के सर्वज्ञत्व की सिद्धि॥

धियान्तरतमार्थवद् गतिसमन्वयान्वीक्षणाद्-
भवेत्खपरिमाणवत्-क्वचिदिह प्रतिष्ठा परा।
प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात्क्वचित्
तथायमपि युज्यते ज्वलनवत्कषाक्षयः॥ 18॥

मिले-जुले अदृश्य अर्थ को जान रहे बुद्धि से जो
उन सर्वज्ञ देव की सत्ता कहीं लोक में होगी तो।
जो मिटता है मिटता जाता कहीं नाश भी होता है
अग्नि समान कषाय मैल का क्षय आतम में होता है॥ 18॥

अन्वयार्थ : [धिया] बुद्धि से [अन्तरतमार्थवद्-गति-समन्वयान्वीक्षणात्] अति घनिष्ठ पदार्थवानों की परिणति का समन्वय अच्छी तरह देखने से [खपरिमाणवत्] आकाश के परिमाण के समान [क्वचित्] किसी जगह [इह] इस लोक में [परा] उत्कृष्ट [प्रतिष्ठा] प्रतिष्ठा [भवेत्] होती है [क्षयवतः] विनाशशील पदार्थ की [क्वचित्] कहीं [निमूलात्] जड़ से [प्रहाणं अपि] प्रकृष्ट हानि भी [दृश्यते] देखी जाती है [तथा] उसी प्रकार [अयं] यह [कषायक्षयः] कषायों का क्षय [अपि] भी [ज्वलनवत्] अग्नि के समान [युज्यते] घटित होता है।

अर्थ : भगवान् का ज्ञान मिले जुले सभी पदार्थों की पर्यायों को अच्छी तरह जानता है। सर्वज्ञ के ज्ञान का यह परिणाम है कि सभी ज्ञेय पदार्थ उनके ज्ञान में आ जाते हैं। उनका ज्ञान इसीलिए आकाश

के परिमाण के समान व्यापक हैं। ऐसे सर्वज्ञ का सद्भाव इस लोक में कहीं न कहीं अवश्य हैं। सर्वज्ञ की उत्कृष्ट प्रतिष्ठा, उनकी मौजूदगी इस लोक में है। ज्ञान को बाधित करने वाली कषायें होती हैं। जैसे-जैसे कषायों की हानि होती है, ज्ञानावरण आदि कर्मों की हानि भी होती है। कषायों की हानि भी क्रमशः कम-कम होना देखा जाता है। जो पदार्थ विनाशवान है, उसका कहीं समूल नाश भी होता है। अग्नि स्वयं जलती है और दूसरों को जलाती है, स्वयं नष्ट होती है और दूसरों को भी नष्ट करती है। जिस तरह अग्नि का समूल नाश देखा जाता है, उसी तरह कषायों का भी समूल नाश देखा जाता है। कषायों के अभाव में आपकी वीतरागता की सिद्धि होती है और वीतरागता से सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है।

॥ सर्वज्ञ के पास पाप कैसे हो?॥

अशेषविदिहेक्ष्यते सदसदात्म-सामान्यवि-
ज्जिन! प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान्।
कदाचिदिह कस्यचित्क्वचि-दपेतरागादिता
स्फुटं समुपलभ्यते किमुत ते व्यपेतैनसः॥ 19॥

सदसदात्म सामान्य वस्तु को जो जाने ज्ञानी होता
किन्तु आप सर्वज्ञ कहाते पाप कहाँ से टिक सकता।
राग हानि स्पष्ट रूप से इस जग में देखी जाती
पाप रहित फिर आप्त रूप में कैसे राग रती आती॥ 19॥

अन्वयार्थ : [सदसदात्म-सामान्यवित्] सत् असत् आत्मक सामान्य को जानने वाला [अशेषवित्] सर्वज्ञ है [इह] इस लोक में [ईक्ष्यते] ऐसा देखा जाता है [जिन!] हे जिन! [प्रकृतिमानुषः अपि] प्रकृति से मनुष्य होकर भी [किमुत] क्या [अखिलज्ञानवान्] आप समस्त

ज्ञान वाले न होवे। [कदाचित्] कभी [इह] यहाँ [कस्यचित्] किसी को [क्व चित्] कहीं [अपेतरागादिता] राग आदि का अभाव [स्फुटं] स्पष्ट रूप से [समुपलभ्यते] प्राप्त होता है तो [ते] आप [व्यपेतैनसः] पाप से रहित को [किमुत] क्या वह रागादि प्राप्त हो सकता है?

अर्थ : जो सत् असत् के इस पूर्वकथित सिद्धान्त को जानता है, वह भी इस लोक में सब कुछ जानने वाला सर्वज्ञ कहलाता है। हे जिनेन्द्र भगवन्! प्रकृति से मनुष्य होकर भी वह सामान्य व्यक्ति जब अशेषवित्, सर्वज्ञ कहला सकता है तो फिर आप वस्तुतः केवलज्ञान से सभी पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ क्यों न हो?

इस लोक में जब किसी व्यक्ति को कहीं, कभी रागादि से रहितपना देखा जाता है तो आप पाप से सर्वथा रहित हैं। आपके पास क्या राग आदि हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

यहाँ भगवान् के केवलज्ञान की सिद्धि मति, श्रुतज्ञान के द्वारा की है। जब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान समस्त तत्त्वों को अनेकान्तात्मक जानकर कोई छद्मस्थ पुरुष सर्वज्ञ के समान दिखता है तो फिर आप समस्त ज्ञान के धारी सर्वज्ञ पुरुष का क्या कहना? इसी तरह भगवान् के पाप का अभाव राग आदि भावों के अभाव से जाना जाता है। राग आदि भाव कर्म अन्तरंग पाप हैं और पाप में प्रवृत्ति बाह्य पाप है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य पाप का त्याग नहीं करता है, वह भी राग आदि से रहित देखा जाता है। फिर आप तो सर्वथा पाप से रहित हैं, आप में राग कैसे हो सकता है?

॥ आप्त का लक्षण अन्यत्र नहीं ॥

अशेषपुरु षादितत्त्व-गतदेशनाकौशलं
त्वदन्यपुरु षान्तरानुचित-माप्तता लाञ्छनम्।

कणादकपिलाक्षपाद मुनिशाक्यपुत्रोक्तय:
स्खलन्ति हि सुचक्षुरादि-परिनिश्चितार्थेष्वपि ॥ 20 ॥

दिव्यध्वनि से तत्त्वदेशना का यह कौशल अनुपम है
अन्य मती इसको अपना लें ऐसा उनमें ना दम है।
कपिल कणाद शाक्य मुनि आदि वस्तु तत्त्व में अज्ञ रहे
जो प्रत्यक्ष ज्ञान से साधित उसमें भी अनभिज्ञ रहे॥ 20 ॥

अन्वयार्थ : [आप्तता-लाञ्छनं] आप्तपने का लक्षण [अशेषपुरुषादि-तत्त्वगत-देशना-कौशलं] समस्त पुरुष आदि तत्त्वगत देशना का कौशल है [त्वदन्य-पुरुषान्तरानुचितं] वह आपसे अन्य दूसरे आप्त पुरुषों को अनुचित है। [कणाद-कपिलाक्षपाद-मुनि-शाक्य-पुत्रोक्तय:] कणाद, कपिल, अक्षपाद मुनि, शाक्यपुत्र के वचन [सुचक्षुरादि-परिनिश्चितार्थेषु अपि] अच्छी तरह चक्षु आदि से निश्चित हुए पदार्थों में भी [हि] निश्चित रूप से [स्खलन्ति] स्खलन करते हैं।

अर्थ : वैशेषिक दर्शन के आद्य प्रणेता कणाद माने जाते हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार कणाद ऋषि रास्ते में पड़े हुए चावलों के कणों का आहार करके कपोती वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे, इसलिए इनका नाम कणाद पड़ा था।

कपिल सांख्य दर्शन के आद्य प्रणेता और परमर्षि कहे जाते हैं। न्यायदर्शन के मूलप्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। पुराणों के अनुसार स्वमतदूषक व्यास ऋषि का मुख देखने के लिए गौतम के पैरों में नेत्र थे, इसलिए इनका नाम अक्षपाद पड़ा। नैयायिक मत इन्हीं ने चलाया था। इन्हें यौग और शैव भी कहा जाता है। शाक्यपुत्र बौद्ध मत को बताता है।

हे भगवन्! आपसे भिन्न इन सभी आप्त पुरुषों में आप्तपने

का लक्षण नहीं है। समस्त आत्मा आदि तत्त्वों से सहित देशना की कुशलता ही आप्तता का लक्षण है। देशना की निपुणता इन कणाद आदि में नहीं पायी जाती है। इन सभी मत वालों के वचन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षित करने पर खरे नहीं उतरते हैं और पदार्थ का निश्चय करने में असमर्थ हैं, इससे स्पष्ट होता है कि ये वस्तुतः आप्त, भगवान्, सर्वज्ञ पुरुष नहीं थे।

॥ एकान्तवादी का निर्वाण कैसे हो?॥

परैरपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा
प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः।
कषायविरहान्न चास्य विनिबन्धनं कर्मभिः
कुतश्च परिनिर्वृतिः क्षणिकरूपतायां तथा॥ 21॥

कितने ही एकान्तरूप से मान रहे आतम कूटस्थ
ऐसा मानें तत्त्व लोप हो हो प्रमेय भी पूरा अस्त।
जो कषाय से रहित आतमा फिर भी कर्मबन्ध करता
ऐसा है तो क्षणिकवाद में आतम युक्त न बन सकता॥ 21॥

अन्वयार्थ : [सर्वथा] एकान्तरूप से [परैः] अन्य किसी से [अपरिणामकः] परिणमन न करनेवाला [पुरुषः] पुरुष [इष्यते] स्वीकारा जाता है तो [ततः] उससे [प्रमाणविषयादि-तत्त्वपरिलोपनं स्यात्] प्रमाण का विषय आदि तत्त्वों का लोप हो जाएगा [अस्य] इस पुरुष / आत्मा का [कर्मभिः] कर्मों से [विनिबन्धनं] बन्धन [कषायविरहात्] कषाय से रहित होने से [न च] नहीं होता है [तथा] वैसा मानने पर [क्षणिकरूपतायां] क्षणिकरूपता में [परिनिर्वृतिः] निर्वाण [कुतः च] कैसे होवे?

अर्थ : उपनिषद्कार, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य इन

सभी के मत में आत्मा एकान्तरूप से सर्वथा नित्य है। इस नित्य आत्मा में कोई परिवर्तन पर-पदार्थों या पर-भावों से नहीं होता है। जैसे कि मीमांसक मानते हैं कि आत्मा चैतन्य रूप है। आत्मा में सुख-दुःख के सम्बन्ध से परिवर्तन होना कहा जाता है, वस्तुतः आत्मा में परिवर्तन नहीं होता है। सांख्य तो आत्मा को निष्क्रिय ही मानते हैं। यदि इस तरह आत्मा नित्य, अपरिणामी है तो वह कूटस्थ है। फिर उस आत्मा से प्रमाण के विषय आदि तत्त्वों का ज्ञान कैसे हो सकता है? इस कारण उनके मत में सभी तत्त्वों का विनाश, लोप ही है।

जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा का कर्मों से जब तक सम्बन्ध है, तब तक वह सुख, दुःख रूप से परिणमन करता है। जब वही आत्मा कर्मों के बन्धन से कषायों के अभाव होने के कारण मुक्त हो जाता है, तो वह सुख, दुःख से अपरिणामी हो जाता है।

अन्य दर्शनकार जैनों की इस मान्यता को नहीं मानते हैं। कोई आत्मा को एकान्ततः नित्य, अपरिणामी मानता है तो कोई परिणामी ही मानता है। बौद्धों ने आत्मा को सर्वथा क्षणिक माना है। सर्वथा क्षणिकवाद में पुनर्जन्म घटित नहीं होता है। वस्तुतः बौद्धदर्शन में आत्मा पंच स्कन्धों से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। ऐसे क्षणिक आत्मा को स्वीकारने पर उस आत्मा का परिनिर्वाण सम्भव नहीं है।

॥ एकान्तमत में मुक्ति का अभाव है॥

मनो विपरिणामकं यदिह संसृतिं चाश्नुते
तदेव व विमुच्यते पुम्भकल्पना स्याद् वृथा।
न चास्य मनसो विकार उपपद्यते सर्वथा
ध्रुवं तदिति हीष्यते द्वितयवादिता कोपिनी ॥ 22 ॥

कुछ कहते हैं मन ही बन्धक और अबन्धक होता है
यदि यह मानें तो फिर कह दो आतम का क्या होता है?
यदि कहते हो सदा सर्वथा मन विकार बिन रहता है
तो मन, आतम ध्रुव हो जावें उभय मान्यता जड़ता है॥ 22॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो [विपरिणामकं] परिणमन स्वभाव वाला [मनः] मन है [इह] वही इस जगत् में [संसृतिं च] संसार को [अश्नुते] प्राप्त करता है [तत् एव च] और वह मन ही [विमुच्यते] मुक्त होता है तो [पुरुषकल्पना] पुरुष की कल्पना ही [वृथा] व्यर्थ [स्यात्] होगी। [अस्य] इस पुरुष को [मनसः] मन का [विकारः] विकार [सर्वथा] एकान्ततः [न च उपपद्यते] उत्पन्न नहीं होता है [तत्] तो वह [ध्रुवं] ध्रुव है [हि] निश्चित ही [इति] इस प्रकार [इष्यते] माना जाता है [द्वितयवादिता] दोनों ही प्रकार का कथन [कोपिनी] कोप पैदा करने वाला है।

अर्थ : कुछ दर्शन वाले मन को ही बन्धक और अबन्धक मानते हैं। उनका कहना है कि परिणमन स्वभाव वाला होने से मन ही संसार को पाता है, मन में ही संसार का बन्धन है और वह मन ही संसार से छूटता है। जो लोग ऐसा मानते हैं, तो जैनाचार्य कहते हैं कि उनके लिए पुरुष (आत्मा)की कल्पना ही व्यर्थ है। जब पुरुष सर्वथा बन्ध और मुक्ति से रहित है तो फिर उसको मानने से भी क्या प्रयोजन? यदि इस पुरुष को मन का विकार सर्वथा उत्पन्न ही नहीं होता है, तो वह पुरुष ध्रुव होगा, नित्य होगा, कूटस्थ होगा, ऐसा स्वीकारना होगा। ऐसी स्थिति में पुरुष की दोनों ही प्रकार की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होगी। आपका दोनों प्रकार का कथन कोप उत्पन्न करने वाला है। आत्मा को कूटस्थ, नित्य मानने पर किसी भी संस्कार की छाप उस पर नहीं रह सकती है। मन से सर्वथा भिन्न

उस आत्मा को नित्य शुद्ध मानने पर जन्ममरण का संसार कैसे हो सकता है? फिर उसकी मुक्ति भी कैसे हो?

॥ आपका शासन ही सुसंस्कृत है॥

पृथग्जनमनोनुकूल-मपरैः कृतं शासनम्
सुखेन सुखमाप्यते न तपसेत्यवश्येन्द्रियैः।
प्रतिक्षणविभङ्गुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
ननु स्वमतलोकलिङ्गपरिनिश्चयैर्व्याहितम्॥ 23॥

मोही जन का शासन हे जिन! निज मन के अनुकूल बना
इन्द्रियवशता नहीं बनी तो सुख से सुख का सूत्र बना।
क्षणभंगुर शासन भी जिनको पूर्ण प्रमाणिक दिखता है
निजमत, निज वचनों से, जन से बाधित होकर छिपता है॥23॥

अन्वयार्थ : [अपरैः] अन्य पुरुषों के द्वारा [कृतं] किया गया [शासनं] शासन [पृथग्जनमनोनुकूलं] असभ्यजनों के मन के अनुकूल है [इति] इस प्रकार [अवश्येन्द्रियैः] इन्द्रियों को वश में न करने वालों के द्वारा [सुखेन] सुख से [सुखं] सुख [आप्यते] प्राप्त किया जाता है। [न तपसा] तप के द्वारा नहीं। [प्रतिक्षणं विभङ्गुरं] प्रतिसमय भंगुर स्वभाव वाला है [च] किन्तु [सकलसंस्कृतं] पूर्ण संस्कृत शासन [इष्यते] माना जाता है [स्वमत-लोक-लिंग-परिनिश्चयैः] अपने मत, लोक, लिङ्ग के निश्चय से [व्याहितं ननु] क्या वह दोषपूर्ण नहीं है?

अर्थ : अन्य दार्शनिकों के शासन या उनका मत सामान्य, दुष्ट या असभ्य जनों के लिए अच्छा लगता है। उनके मत में इन्द्रियों को वश में करना, मानसिक तप करके सुख की प्राप्ति का उपदेश नहीं है, इसलिए मोही, कामी लोग उसे बहुत जल्द अपना लेते हैं।

उनके उपदिष्ट शासन में तो सुख से ही सुख प्राप्त किया जाता है, तप आदि के कष्ट से नहीं। बौद्धों का शासन क्षणभंगुरवाद कहलाता है। इन बौद्धों ने आत्मा को कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नाम के पाँच स्कन्धों से उत्पन्न होने वाली शक्ति को ही ये लोग आत्मा अथवा विज्ञान कहते हैं। यह विज्ञान प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तमान विज्ञान में पूर्वक्षण में होने वाली क्रिया उत्तर क्षण में होनेवाली क्रिया के साथ संस्कार [अविद्या] से सम्बद्ध है, इसी कारण हमें एकरूपता का ज्ञान होता है, वस्तुतः तो प्रत्येक विज्ञान [आत्मा] प्रतिक्षण ध्वंसी है। इस विज्ञान प्रवाह को चित्तसंतति कहा जाता है। ऐसे शासन को भी पूर्ण संस्कृत कहा जाता है। यह शासन अपने ही मत, अपनी ही मान्यताओं के निश्चय से, लोकमान्यता के निश्चय से और लिंग [अनुमान ज्ञान] के निश्चय से क्या खण्डित नहीं है? अवश्य ही है।

॥ बौद्धमत खण्डन॥

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृषिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रियाः
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ 24 ॥

बौद्धों की सन्तति नश्वर ना और न ही अविनश्वर है
द्वय विध मानें तो भी उनके, मत में सब क्षणभंगुर है।
संसृति की या धर्मक्रिया हों उनको सब ही व्यर्थ दिखे
सन्तति यदि अविनश्वर होवे स्वयं प्रतिज्ञा भंग दिखे॥ 24॥

अन्वयार्थ : [सन्ततिः] वह सन्तति [अनश्वरी न] स्थायी नहीं है [न हि च नश्वरी] और वह नश्वर भी नहीं है [नो] और न

[द्विधा] दोनों प्रकार की है [यतः] क्योंकि [तत्त्वतः] वास्तव में [वनादिवत्] वन आदि की तरह [अभाव एव] उसका अभाव ही [इष्यते] माना है। [कृषि-दान-शील-मुनिवन्दनादिक्रियाः] कृषि, दान, शील, मुनि की वन्दना आदि क्रियाएँ [वृथा एव] व्यर्थ ही हैं। [यदि कथंचित्] यदि वह सन्तति कथंचित् [अविनश्वरी] स्थायी है तो [प्रतिज्ञाक्षतिः] आपकी प्रतिज्ञा का भंग [भवेत्] होगा।

अर्थ : बौद्धों के द्वारा मान्य संतति ही वासना कहलाती है। बौद्धों के अनुसार पदार्थ प्रत्येक क्षण में नष्ट होता रहता है, फिर भी परस्पर भिन्न क्षणों को जोड़ने वाली शक्ति का नाम वासना अथवा सन्तति, सन्तान है। यह अनेक क्षणों की परम्परा ही वासना है। विज्ञानवादी बौद्ध इसी वासना को आलयविज्ञान भी कहते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि क्षणिकवादी बौद्धों के मत में वह संतति क्या नित्य है, अनित्य है या दोनों रूप है? वह संतति न तो स्थायी है, न अस्थायी [क्षणभंगुर] है और न दोनों रूप है। बौद्ध लोग मानते हैं कि वन, समुद्र, पृथ्वी आदि कोई भी पदार्थ वस्तुतः है नहीं, वह तो पूर्व-उत्तर क्षणों में एक-सा ज्ञान होने के कारण सदृश, एकरूप दिखाई देती है। वस्तुतः तो वन आदि का अभाव है। जैनाचार्य कहते हैं कि वह सन्तति भी वस्तुतः अभावात्मक ही है क्योंकि उसकी कोई सिद्धि नहीं होती है। आपके अनुसार चलें तो खेती आदि करना, दान देना, शील, व्रत आदि का पालन करना और मुनि की वन्दना आदि सभी लौकिक और अलौकिक क्रियायें व्यर्थ ही सिद्ध होंगी, क्योंकि आपके यहाँ सब कुछ क्षणभंगुर है। जो इस क्षण है, वही अगले क्षण विनष्ट हो गया, इसलिए पुण्य-पाप कुछ भी करना व्यर्थ है। यदि आप बौद्ध उस सन्तति को स्थायी मानते हो, जिससे सभी पदार्थों में एकरूपता रहती है, तो

आपकी ही प्रतिज्ञा का विनाश होगा। क्षणभंगुरता की आपकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाएगी।

॥ आपका स्वरूप मनुष्यों से विलक्षण है॥

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-
मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः।
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः॥ 25॥

हे पुरुषोत्तम! मनुज हुए पर, मनुज नहीं तुम लगते हो
मूर्ख मनुज ही मनुज आपको मान रहे क्या करते वो?
सकल लोक के जानन हारे परम विराग आप जिन रूप
जन्म मरण से रहित बने हो क्या मनुष्य का होय स्वरूप?॥25॥

अन्वयार्थ : [अनन्यपुरुषोत्तमः] आप विलक्षण श्रेष्ठ पुरुष हैं [मनुजतां अतीतः अपि] मनुष्यता से रहित होकर भी [सः] वह [मनुष्यः] मनुष्य है [इति] इस प्रकार [बालिशैः] मूर्ख [नरैः] मनुष्यों के द्वारा [अधुना] अभी [त्वं] आप [शस्यसे] कहे जाते हैं। [क्व] कहाँ [ते] आपका [मनुजगर्भिता] मनुष्यों में गर्भित होना [क्व च] और कहाँ [विराग-सर्वज्ञता] वीतराग, सर्वज्ञपना। [तत्त्वतः] वास्तव में [हि] निश्चय से [तव] आपका [जन्ममरणात्मता] जन्म-मरणपना [न विद्यते] नहीं है।

अर्थ : हे भगवन्! आपका व्यक्तित्व बहुत विलक्षण है, जो अन्य में नहीं पाया जाता है। आप मनुष्यपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। आपमें सामान्य मनुष्यों जैसा कोई गुण देखने में नहीं आता है। **स्वयम्भूस्तोत्र** में भी कहा है कि 'मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्' अर्थात् आप मनुष्य सम्बन्धी स्वभाव से परे हैं। ऐसी स्थिति में मन्दबुद्धि,

मूर्ख लोग ही आपको अभी मनुष्य कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो आप मनुष्यों में गर्भित नहीं हैं। क्या कोई मनुष्य आप जैसा वीतराग दिखता है? इसलिए कहाँ यह मनुजता और कहाँ आप जैसी विरागता और सर्वज्ञता? वास्तव में आपका जन्म, मरण नहीं है। मनुष्य तो उसे कहते हैं जो जन्म-मरणपना धारण किये रहता है। इसलिए हे भगवन् आप विलक्षण हैं, अद्भुत महिमा को धारण करते हैं।

॥ भगवान् मनुष्यमात्र क्यों नहीं है?॥

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
मलैरनुपसंप्लुतो वरसरोजपत्रेंऽम्बुवत्।
हिताहितविवेक-शून्यहृदयो न गर्भेऽप्यभूः
कथं तव मनुष्यमात्रसदृशत्वमाशंक्यते॥ 26॥

जैसे कमलपत्र पर जल की बून्द लगे मोती अनमोल
वैसे ही निर्लिप्त गर्भ में माता के रहते सुख घोल।
गर्भवास में रहकर भी जिन! आप विवेकी बने रहे
मनुज मात्र में क्या यह सम्भव हो सकता है कौन कहे?॥26॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [स्वमातुः] अपनी माता के [गर्भतः] गर्भ से [यद्यपि] यद्यपि [प्रभवः] उत्पत्ति [इष्यते] आपकी मानी जाती है [वरसरोजपत्रे] श्रेष्ठ कमल के पत्ते पर [अम्बुवत्] जल की तरह [मलैः] मल के द्वारा [अनुपसंप्लुतः] आप लिप्त नहीं हुए [हिताहित-विवेकशून्यहृदयः] हित-अहित के विवेक से शून्य हृदय वाले आप [गर्भे] गर्भ में [अपि] भी [न अभूः] नहीं हुए [कथं] कैसे [तव] आपकी [मनुष्यमात्र-सदृशत्वं] मनुष्यमात्र के साथ समानपने को [आशङ्क्यते] आशंका की जा सकती है?

अर्थ : हे भगवन्! आप मनुष्य थे। आपका जन्म मनुष्य की तरह

एक माँ के गर्भ में हुआ। गर्भ में उत्पन्न होने मात्र से आपको मनुष्यमात्र नहीं कह सकते हैं। मनुष्य तो माँ के गर्भ में मल-मूत्र से लिप्त होकर रहता है। गर्भ में संकुचन के साथ पीड़ा को प्राप्त होता है। माँ को भी कष्ट होता है और पुत्र को भी। परन्तु भगवन्! आप तो उत्कृष्ट कमल के पत्र पर रखी जल की बूंद की तरह गर्भ में रहकर भी देहमल से निर्लिप्त थे। सामान्य मनुष्य गर्भ में उत्पन्न होकर विवेकशून्य रहता है। उसे हित-अहित का कुछ भी विवेक नहीं रहता है। आप तो गर्भ में भी विवेकवान् थे। तीन-तीन सम्यग्ज्ञान के साथ आपका हृदय गर्भ में भी ज्ञान से पूर्ण था। ऐसी स्थिति में कैसे आपको मनुष्यमात्र मान लिया जाय? आप मनुष्यमात्र से सदृशता रखते हैं, ऐसी आशंका कैसे की जा सकती है? आप केवल मनुष्य ही नहीं थे, किन्तु कुछ विशिष्टता के साथ आपका गर्भ में रहना आपको मनुष्यपने से बहुत ऊपर उठा देता है।

॥ भगवान् के मृत्यु व बुढ़ापा नहीं है॥

न मृत्युरपि विद्यते प्रकृति-मानुषस्येव ते
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत्।
जरा च नहि यद् वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः
प्रभृत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ् मृतेः॥ 27॥

जो स्वभाव से मनुज बना है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है
मृतक पुरुष का मोक्ष नहीं है किन्तु जन्म ही निश्चित है।
किन्तु आप निर्वाण गये हैं सदा युवा ही रहे निरोग
तथा बुढ़ापा नहीं आपका बहुत विलक्षण गुण का योग॥27॥

अन्वयार्थ : [ते] आपकी [प्रकृतिमानुषस्य इव] प्रकृति से मनुष्य की तरह [मृत्युः] मृत्यु [अपि] भी [न विद्यते] नहीं है [मृतस्य]

मृत पुरुष का [परिनिर्वृतिः] परिनिर्वाण [न] नहीं होता, किन्तु [पुनर्जन्मवत्] पुनर्जन्म की तरह [मरणं] मरण होता है। [यत्] चूँकि [विमल केवलोत्पत्तितः] निर्मल केवलज्ञान की उत्पत्ति से [प्रभृति] आगे [मृतेः प्राङ्] मरण से पहले [वपुः] आपका शरीर [अरुजं] रोगरहित [एकरूपं] एक समान [अवतिष्ठते] रहता है [जरा च न हि] इसलिए आपके बुढ़ापा नहीं है।

अर्थ : जो इस संसार में स्वभाव से ही मनुष्य की तरह मृत्यु को प्राप्त होता है, ऐसे मनुष्य की तरह आपकी मृत्यु नहीं है। आपकी मृत्यु हुई ही नहीं है। आपका तो परिनिर्वाण हुआ है। मृत पुरुष का परिनिर्वाण नहीं होता है। जैसे जन्म लेने वाले पुरुष का पुनर्जन्म होता है, उसी प्रकार मरण करने वाले पुरुष का फिर मरण होता है। इसलिए आपका मरण नहीं है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद आयु के अन्तिम समय तक आपका शरीर रोग-रहित रहता है और एक समान रहता है। आपके शरीर में कोई परिवर्तन नहीं आता है। आपके शरीर में आयु घटने के साथ भी कोई अन्तर नहीं आता है। आप सदैव एक समान रहते हैं, इसलिए आप बुढ़ापे से रहित हैं।

केवलज्ञान के साथ भगवान् को लाभान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से ऐसी विशिष्ट आहार-वर्गणाओं का लाभ होता है, जो अन्य छद्मस्थ जीव को नहीं मिलती हैं। इन्हीं वर्गणाओं के ग्रहण करने के कारण भगवान् निराहार रहकर भी सदैव एक समान शरीर वाले बने रहते हैं।

॥ भगवान् का सुख कैसा है? ॥

परः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्रार्थ्यते
सुखं युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययम्।
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजम्॥ 28॥

देव लोग भी सुख को चाहें दीन बने परतन्त्र हुए
सदा मनुज सम भोग भोगने चाह कामिनी मन्त्र लिए।
श्रीजिन परमातम का सुख तो निरुपम निज में विलस रहा
शाश्वत है, परतन्त्र नहीं है अन्य परिणमन विनश रहा॥28॥

अन्वयार्थ : [कृपणदेवकैः] दीन देव लोग [स्वयं] स्वयं [असत्सुखैः] जो सुखी नहीं हैं, वे [परः] पर की [प्रार्थ्यते] प्रार्थना करते हैं [सुखं] सुख [युवतिसेवनादि-परसन्निधिप्रत्ययम्] स्त्री सेवन आदि पर पदार्थ की सन्निधि प्रत्यय से है। [त्वया] आप [परमात्मना] परमात्मा का [सुखं] सुख [तु] तो [यतः] चूँकि [परतः] पर से [न] नहीं है। [ते] आपका सुख [व्यपेत परिणामकं] वह सुख परिणमन से रहित [निरुपमं] निरुपम [ध्रुवं] ध्रुव [स्वात्मजं] अपनी आत्मा से उत्पन्न होता है।

अर्थ : हे भगवन्! आपके अलावा जो अन्य देव हैं, वे तो दीन, कृपण हैं। वे देव स्वयं में सुख की सत्ता से रहित हैं, इसलिए वे सुख के लिए दूसरों की अभिलाषा रखते हैं। उनका सुख तो स्त्रीसेवन आदि दूसरे पदार्थों के सहयोग से उत्पन्न होता है। व्यक्ति जब स्वयं दुःखी होता है, तभी दूसरों की सहायता से सुख प्राप्त करता है। जिनकी विषयों में रति है, उनको दुःख स्वभाव से है। यदि ऐसा न हो तो वे विषयों में रति क्यों करते हैं? प्रवचनसार में यही कहा है-

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं णहि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं॥

इससे सिद्ध होता है कि स्त्री आदि पर-द्रव्यों की संगति करनेवाले देवता भी दुःखी हैं। आप परमात्मा हैं, क्योंकि आपका सुख पर-पदार्थ के आश्रित नहीं है। आपका सुख तो अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ है। वह सुख कभी भी अन्यथा परिणमन नहीं करता

है। आत्मा का वह सुख परद्रव्यों के निमित्त से भी परिवर्तित नहीं होता है। आपका आत्मिक सुख उपमा रहित होने से निरुपम है। तीन काल में ऐसा कोई भी कारण नहीं है, जो उस सुख को बिगाड़ सके, इसी कारण से वह सुख ध्रुव है।

॥ नृत्य आदि करनेवाला भगवान् नहीं होता॥

पिशाचपरिवारितः पितृवने नरीनृत्यते
क्षरद्रुधिर- भीषणद्विरदकृत्तिहेलापटः।
हरो हसति चायतं कहकहाट्टहासोल्वणं
कथं परमदेवतेति परिपूज्यते पण्डितैः॥ 29॥

घिरा पिशाचों से जो नित ही मरघट में ही नाच रहा
दाँत रक्त से सने हुए मृग-चर्म बैठ बीभत्स अहा।
महाभयानक मुख को फाड़े अट्टहास कर जो हँसता
परमदेवता कैसे ऐसा ज्ञानीजन का हो सकता? ॥ 29॥

अन्वयार्थ : [पिशाचपरिवारितः] पिशाचों से घिरा हुआ [पितृवने] श्मसान में [नरीनृत्यते] जो खूब नाचता है [क्षरद्-रुधिर-भीषण-द्विरद-कृत्ति-हेलापटः] निरन्तर भयानक खून रिसते हुए दाँतों से मृगचर्म पर प्रेमालिंगन करता है [हरः] वह हर [कहकहाट्टहासोल्वणं] कहकहा कर अट्टहास से [च] और [आयतं] मुँह फाड़कर [हसति] हँसता है। [इति] इस तरह [कथं] कैसे [परमदेवता] वह परमदेवता हो, जो [पण्डितैः] पण्डितों से [परिपूज्यते] पूजा जाय?

अर्थ : नृत्य करना राग का प्रतीक है। जो देवता नाचता है, वह भगवान् कैसे होवे? जिसकी संगति भूत-पिशाचों से है, जो दूसरों से डरता नहीं है, इसलिए पिशाचों के श्मसान में रहता है तो वह स्त्रयं क्यों

बीभत्स रूप बनाये है? स्वयं उस हर के मुख से दाँतों से लाल खून बहता दिखता है। जो खून पीता हो, माँस खाता हो, वह भला भगवान् कैसे हो सकता है? अट्टहास से मुंह फाड़कर हँसना भी कषाय के साथ होता है। पाप से मलिन, कषायों से सहित ऐसे व्यक्ति को परमदेवता कैसे कहा जाय? ऐसा व्यक्ति पण्डित अर्थात् ज्ञानीजनों से पूजने योग्य भी कैसे हो?

॥ मांसादिसेवी भगवान् नहीं होता?॥

मुखेन किल दक्षिणेन पृथुनाखिल-प्राणिनां
समत्ति शवपूतिमज्जरुधिरान्त्रमांसानि च।
गणैः स्वसदृशैर्भृशं रतिमुपैति रात्रिंदिवं
पिबत्यपि च यः सुरां स कथमाप्तताभाजनम्॥ 30॥

जो अपने दक्षिण मुख से नित मांस खून मज्जा पीता
अपने जैसे व्यसनी जन के साथ रमण रति में जीता।
सुरापान की मस्ती में जो गाफिल है क्या पूज्य बने?
आप्तपने के लक्षण कैसे सुधीजनों के मान्य बने॥ 30॥

अन्वयार्थ : [पृथुना] विशाल [दक्षिणेन] दक्षिण [मुखेन] मुख से [किल] निश्चित ही [अखिलप्राणिनां] समस्त प्राणियों के [शव-पूति-मज्ज-रुधिरान्त्रमांसानि] शव, दुर्गन्ध युक्त मज्जा, रक्त, आंत, मांस को जो [समत्ति] खाता है [च] और [स्वसदृशैः] अपने जैसे ही [गणैः] गणों के साथ [रात्रिंदिवं] दिनरात [भृशं] खूब [रतिम्] रति को [उपैति] प्राप्त करता है [च] और [यः] जो [सुरां] शराब [अपि] भी [पिबति] पीता है [सः] वह [आप्तताभाजनं] आप्तपने का पात्र [कथम्] कैसे हो?

अर्थ : जिस भगवान् की मान्यता ऐसी है कि उसके चार मुख हैं, उनमें से दक्षिण मुख का कार्य सभी जीवों के शव आदि अपवित्र, दुर्गन्धित वस्तुओं

का भक्षण करना है। जो अपने ही जैसे अन्य देवों की संगति बनाकर रहता है, अपने समूह में रात-दिन कामासक्त होकर रति करता है, मादक पदार्थों का सेवन करता है, मदिरापान आदि करनेवाला, मांस आदि का भक्षण करनेवाला, राग-रति से समन्वित कोई जीव आप्त कैसे हो सकता है?

॥ पूर्वोक्त दोषों से सहित भगवान् नहीं है॥

अनादिनिधनात्मकं सकलतत्त्वसंबोधनं
समस्तजगदाधिपत्यमथ तस्य सन्तृप्तता।
तथा विगतदोषता च किल विद्यते यन्मृषा
सुयुक्तिविरहान्न चास्ति परिशुद्धतत्त्वागमः॥ 31॥

जो अनादि-अनिधन रहता है, सकल तत्त्व को जान रहा
सकल जगत पर आधिपत्य है, दोष रहित, सन्तुष्ट रहा।
बात नहीं बन सकती उसमें जिसमें रति, पल भक्षण है
मुक्ति बिना जो सच कहता है, तत्त्व ज्ञान का नहि कण है॥31॥

अन्वयार्थ : [तस्य] उस हर के [अथ] यदि [संतृप्तता] सन्तुष्टि है [तथा विगतदोषता] तथा दोषों से रहितपना [विद्यते] विद्यमान है, जो [अनादिनिधनात्मकं] अनादि-अनिधन रूप है [सकलतत्त्वसंबोधनं] समस्त तत्त्वों को जानता है, [समस्तजगदाधिपत्यं] समस्त संसार पर जो आधिपत्य रखता है [किल च] निश्चित ही [यत् मृषा] यह झूठ है [सुयुक्तिविरहात्] यह तथ्य श्रेष्ठ युक्तियों से रहित होने से [परिशुद्धतत्त्वागमः] शुद्ध तत्त्व का ज्ञान [न च अस्ति] यह नहीं है।

अर्थ : और यदि कहो कि वह ईश्वर अनादि अनिधन है, उसका सृष्टि में न कभी अभाव था और न होगा, वह ईश्वर समस्त तत्त्वों को जानता है और समस्त संसार पर अपना स्वामित्व रखता है। साथ में यह भी कहो कि

वह सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा और नाश भी करता है, तो यह झूठ है। जो शाश्वत है, सर्वज्ञाता है, वह जब असन्तुष्ट होगा तभी सृष्टि की उत्पत्ति करेगा। सन्तुष्टि होना और सृष्टि की रचना, नाश आदि करना विपरीत बाते हैं। ऐसा भगवान् निर्दोष कैसे हो सकता है? यह तथ्य तर्क पर खरे नहीं उतरते, इसलिए शुद्ध तत्त्व का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता है।

॥ भगवान् के पास परिग्रह नहीं होता है ॥

कमण्डलुमृगाजिनाक्षवलयादिभिर्ब्रह्मणः
शुचित्वविरहादिदोषकलुषत्वमभ्यूह्यते।
भयं विघृणता च विष्णुहरयोः सशस्त्रत्वतः
स्वतो न रमणीयता च परिमूढता भूषणात्॥ 32॥

रखे कमण्डलु शुचिता हेतु आसन जिसका मृग की खाल
माला में रुद्राक्ष पिरोया शत्रू उच्चाटन की चाल।
ईश्वर होकर भी डरता जो करे बुरा पर का अपकार
आभूषण शस्त्रों से सज्जित ईश मूढ़ता का आधार॥ 32॥

अन्वयार्थ : [ब्रह्मणः] ब्रह्मा को [कमण्डलु-मृगाजिनाक्षवलयादिभिः] कमण्डलु, मृगचर्म, अक्षवलय आदि के द्वारा [शुचित्व-विरहादि-दोष-कलुषत्वम्] शुचिपना, विरह आदि दोष और कलुषपना [अभ्यूह्यते] विचारे जाते हैं [च] और [विष्णुहरयोः] विष्णु और हर की [भयं] भय [विघृणता] घृणा [सशस्त्रत्वतः] सशस्त्र होने से जानी जाती है [स्वतः] स्वयं से [रमणीयता] सुन्दरता [न] नहीं है [च भूषणात्] तो आभूषणों से [परिमूढता] मूढ़ता होती है।

अर्थ : ब्रह्मा के पास कमण्डलु है, सो क्या उन्हें शुचिपने की जरूरत रहती है? भगवान् के शरीर में अशुचिता नहीं होती है,

इसलिए कमण्डलु की आवश्यकता नहीं होती है। मृगचर्म का आसन बताता है कि किसी प्राणी को देह से अलग करके यह चर्म प्राप्त हुई है, जिससे हिंसा आदि निर्दयता विचार करने में आती है। अक्षवलय, रुद्राक्षमाला धारण करते हैं, मानो मन में कलुषता रहती है कि किसी का विनाश, अपकार करना है। 'शत्रूच्चाटने च रुद्राक्षा'। रुद्राक्ष की माला दुश्मन का उच्चाटन के लिए होती है। विष्णु भगवान् होकर भी भयभीत रहते हैं। एक गय नामक असुर था, जो तपस्या करता था। इससे त्रिलोकीनाथ संतप्त होने लगे। अन्त में विष्णु के आदेश से ब्रह्मा जी ने गय के पास जाकर यज्ञ करने के लिए उसकी देह मांगी और उसी पर यज्ञ किया। यज्ञ पूरा होने पर असुर फिर उठने लगा तो स्वयं भगवान् विष्णु गदाधर के रूप में उसके ऊपर स्थित हो गये। इससे विष्णु का भय जाना जाता है और गदा धारण करना भी भयभीत होने का प्रतीक है। हर, शिव त्रिशूल धारण करते हैं और रुष्ट होकर किसी के प्रति घृणा करने का स्वभाव भी उनका है। इस तरह स्वाभाविक सुन्दरता, रमणीयता न होकर अनेक प्रकार रूप धारण करके लुभाना मूढ़ता है।

॥ भगवान् सृष्टि का संहारक / उत्पादक नहीं ॥

स्वयं सृजति चेत्प्रजाः किमिति दैत्यविध्वंसनं
सुदुष्टजननिग्रहार्थमिति चेदसृष्टिर्वरम्।
कृतात्मकरणीयकस्य जगतां कृतिर्निष्फला
स्वभाव इति चेन्मृषा स हि सुदुष्ट एवाऽऽप्यते॥ 33॥

स्वयं प्रजा की सृष्टि करता प्रजापति वो कहलाता
स्वयं बनाए दुष्ट जनों को स्वयं मारकर क्या पाता?
कौन जगत में अपनी रचना, स्वयं बनाकर नष्ट करे?
यदि स्वभाव से ऐसा है तो झूठी माया दुष्ट करे॥ 33॥

अन्वयार्थ : [चेत्] यदि ब्रह्मा [प्रजाः] प्रजा का [स्वयं] स्वयं [सृजति] सृजन करता है [किमिति] तो क्यों [दैत्यविध्वंसनं] दैत्यों का नाश करता है [सुदुष्टजननिग्रहार्थं] बहुत दुष्ट जनों का निग्रह करने के लिए [इति चेत्] यदि ऐसा करता है तो [असृष्टिः] नहीं बनाना ही [वरम्] ठीक था [कृतात्मकरणीयकस्य] स्वयं करणीय को करने वाले ब्रह्मा का [जगतां] संसार की [कृतिः] रचना [निष्फला] निष्फल करना [इति चेत्] इस प्रकार यदि [स्वभावः] स्वभाव है [मृषा] तो यह झूठ है [स हि सुदुष्टः एव] वह तो निश्चित ही बहुत दुष्ट ही [आप्यते] प्राप्त होता है।

अर्थ : वह ब्रह्मा इस सृष्टि को रचता है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। इस सृष्टि में वह स्वयं जनसमूह को बनाता है। यदि ब्रह्मा ने स्वयं प्रजा को बनाया है तो फिर बाद में वही ईश्वर दैत्यों का नाश क्यों करता है? दुष्ट पुरुष, दैत्य जन भी तो उसी ईश्वर की रचना है। यदि कहो कि दुष्ट जनों को दण्ड देना, उनका विनाश करना ब्रह्मा का कार्य है तो फिर उस ईश्वर ने उन्हें बनाया ही क्यों? इससे अच्छा तो यही था कि उन दैत्यों को बनाता ही नहीं, जो बाद में उन्हें मारना पड़ा? भला कोई अपनी बनाई गई कृति, रचना को स्वयं नष्ट करता है। यदि ऐसा कोई करता है तो या तो वह कृतिकार अज्ञानी है या फिर उसे क्या करना है, क्या नहीं करना है, इस बात का विचार नहीं है, यह मालूम पड़ता है। इस प्रकार करना भी यदि आप उस ईश्वर का स्वभाव बताते हैं, तो यह व्यर्थ की बात है, झूठ है। ऐसा करने वाला व्यक्ति निश्चित ही कोई बहुत दुष्ट पुरुष समझ में आता है, जो अपनी ही बनाई सन्तान का स्वयं विनाश करता है।

॥ आपसे भिन्न कोई आप्त नहीं ॥

प्रसन्नकुपितात्मनां नियमतो भवेद्दुःखिता
तथैव परिमोहिता भयमुपद्रुतिश्चामयैः।

तृषापि च बुभुक्षया च न च संसृतिश्छिद्यते
जिनेन्द्र! भवतोऽपरेषु कथमाप्तता युज्यते॥ 34 ॥

चाह रखे जो उनसे खुश है ना चाहे उनसे यदि कोप
डरा हुआ, रोगों से पीड़ित भूख प्यास का ना यदि लोप।
तो उसका संसार बना है कैसे वह ईश्वर होगा?
हे जिनेन्द्र! बिन आप यहाँ पे कौन और ईश्वर होगा? ॥34 ॥

अन्वयार्थ : [प्रसन्न-कुपितात्मनां] प्रसन्न और कुपित आत्माओं को [नियमतः] नियम से [दुःखिता] दुःखीपना [भवेत्] होता है [तथैव] उसी प्रकार [परिमोहिता] सबको मोहित करना [भयं] डर होना [च] और [आमयैः] रोगों से [उपद्रुतिः] परेशान होना [बुभुक्षया] बुभुक्षा होने से [तृषा अपि] प्यास भी होना [संसृतिः] संसार का [च न छिद्यते] नाश नहीं करता है [जिनेन्द्र!] हे जिनेन्द्र! [भवतः] आपसे [अपरेषु] भिन्न अन्य जनों में [आप्तता] आप्तता [कथं] कैसे [युज्यते] बन सकती है?

अर्थ : जो लोग दूसरों पर कुपित, रुष्ट हो जाते हैं या प्रसन्न, खुश हो जाते हैं, वे लोग नियम से भीतर से बहुत दुःखी होते हैं। उनकी आत्मा में दुःख है। उसकी अभिव्यक्ति हर्ष, विषाद के द्वारा होती है। उसी प्रकार अपने अन्दर मोह रखना, भयभीत होना, रोगों का उपद्रव होना, भूख की इच्छा रहने से, प्यास की इच्छा रहने से यह बात सिद्ध होती है कि उस आत्मा का संसार नष्ट नहीं हुआ है। उस आत्मा में संसार बसा है, क्योंकि संसार इन्हीं सब दोषों का नाम है। हे जिनेन्द्र भगवन्! आपमें ये दोष नहीं हैं, इसलिए आपसे भिन्न अन्य देवताओं में आप्तपना नहीं है, फिर भी यदि कोई माने तो कैसे हो सकता है?

॥ अनायतन की सेवा नरक का कारण ॥

कथं स्वयमुपद्रुताः परसुखोदये कारणं
स्वयं रिपुभयार्दिताश्च शरणं कथं बिभ्यताम्।
गतानुगतिकैरहो त्वदपरत्र भक्तैर्जनै-
रनायतनसेवनं निरय - हेतुरङ्गीकृतम्॥ 35॥

स्वयं दुखी जो ईश्वर कैसे पर सुख कारण सेतु बने
स्वयं शत्रु से, भय से पीड़ित शरणागत की शरण बने।
फिर भी भेड़ चाल सम जग के जीव मूढ़ ही बने हुए
अपर शरण को चाह रहे हैं नरक हेतु जो तने हुए॥ 35॥

अन्वयार्थ : [स्वयं] स्वयं [उपद्रुताः] जो पीड़ित हैं वे [कथं] कैसे [परसुखोदये] दूसरों के सुख के उदय में [कारणं] कारण हों? [स्वयं] जो स्वयं [रिपुभयार्दिताः च] शत्रु और भय से पीड़ित हैं वे [कथं] कैसे [बिभ्यतां] डरे हुओं को [शरणं] शरण दें [अहो!] आश्चर्य है कि [गतानुगतिकैः] गतानुगतिक [भक्तैः जनैः] भक्त जनों ने [त्वत् अपरत्र] आपसे भिन्न अन्य जनों में [अनायतनसेवनम्] अनायतन की सेवा [निरयहेतुः] नरक के लिए कारण [अङ्गीकृतम्] स्वीकार की है।

अर्थ : जो स्वयं क्षुधा, काम आदि अनेक दोषों से पीड़ित हैं, वे कैसे दूसरों को सुख दे सकते हैं। अग्नि देव क्षुधा से पीड़ित हैं, शंकर रति से दुःखी हैं, ब्रह्मा राग से व्याप्त हैं, विष्णु निद्रा दोष से सहित हैं। अपने वैरी को मारने के लिए अभिशाप देते हैं, उनसे डर जाते हैं। आयुध को रखना ही भय को प्रकट करता है। जो स्वयं शत्रुओं से और शत्रु के भय से पीड़ित हैं, वे दूसरों को निर्भय कैसे कर सकते हैं ? गतानुगतिक भक्त लोग सब कुछ मानते रहते हैं, अनायतन की सेवा करते हैं, यही दुर्गति का कारण है।

॥ शुभ, अशुभ-प्रवृत्ति कर्मबन्ध का कारण॥

सदा हननघातनाद्यनुमतिप्रवृत्तात्मनां
प्रदुष्टचरितोदितेषु परिहृष्यतां देहिनाम्।
अवश्यमनुषज्यते दुरितबन्धनं तत्त्वतः
शुभेऽपि परिनिश्चितस्त्रिविधबन्धहेतुर्भवेत्॥ 36॥

जीव हनन जो खुद करता है, करवाता अनुमति देता
दुराचरण करने वालों से सहज मित्रता कर लेता।
निश्चित ही वह पाप बन्ध का बन्धन करता आतम में
वचन, काय, मन शुभ भी हेतु पुण्य बन्ध के जिनमत में॥36॥

अन्वयार्थ : [सदा] सदा [हनन-घातनाद्यनुमति-प्रवृत्तात्मनां] नाश करना, घात करना आदि की अनुमति में प्रवृत्त आत्माओं को और [प्रदुष्टचरितोदितेषु] प्रकृष्ट रूप से दुष्ट चरित्र का जिनमें उदय है उनमें [परिहृष्यतां] प्रसन्न रहने वाले [देहिनां] प्राणियों को [तत्त्वतः] वास्तव में [दुरितबन्धनं] पाप का बन्ध [अवश्यं] अवश्य [अनुषज्यते] होता है [शुभे अपि] शुभ में भी [त्रिविध-बन्धहेतुः] तीन प्रकार के बन्ध का कारण [परिनिश्चितः] निश्चित [भवेत्] होता है।

अर्थ : स्वयं जो किसी प्राणी का घात करता है, उसके नाश में, पीड़ा आदि पहुँचाने में या घात करने वाले की अनुमोदना में जो आत्मायें प्रवृत्ति करती हैं, उनको निश्चित रूप से पाप का बन्ध होता है। कोई अपने को भगवान् कहे और इन हिंसा आदि कार्यों में लगा रहता हो, ऐसा सम्भव ही नहीं। भगवान् हिंसा, प्राणिघात नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो उनके पापबन्ध को भी कोई रोक नहीं सकता। पापी कभी भगवान् नहीं हो सकता है।

जिन आत्माओं का चरित्र दुष्ट है, जो पर की स्त्री से सम्बन्ध रखते

हैं, दुष्ट चरित्रवालों की जो प्रशंसा करते हैं, उनसे प्रसन्न रहते हैं, उनके लिए भी पाप का बन्ध अवश्य होता है।

जब यह आत्मा अशुभ से हटकर शुभ में लग जाता है, तो भी मन, वचन, काय के तीन हेतु शुभ बन्ध के कारण बनते हैं। जब तक यह आत्मा शुभ, अशुभ कार्यों में लगा रहता है, तब तक कर्म का बन्ध होता है। कर्म का बन्ध होना संसारी जीव की बात है।

॥ क्या भगवान् ने स्वर्ग, मोक्ष की क्रियाओं का उपदेश दिया है?॥

विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडना हेतवः।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किं तु ताः
त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥ 37 ॥

मोक्ष, स्वर्ग सुख देनेवाली, जिनपूजा वा दान क्रिया
बहुविध जीवों की हिंसा का, कारण जिसमें मान्य किया।
केवलज्ञानी आप ईश ने, क्या इनका उपदेश दिया?
अथवा भक्तजनों ने खुद ही, भक्तिवश ही मान लिया? ॥37॥

अन्वयार्थ : [विमोक्ष-सुख-चैत्यदान-परिपूजनाद्यात्मिकाः] मोक्ष, सुख, चैत्य, दान, पूजन आदि रूप [क्रियाः] क्रियाएँ [बहुविधासुभृन्मरणपीडनाः] बहुत प्रकार के जीवों के मरण और उनकी पीड़ा वाली [हेतवः] तथा उसमें कारणरूप हैं [त्वया] आप [ज्वलितकेवलेन] केवलज्ञान से प्रकाशित आत्मा ने वे क्रियाएँ [किं नु] क्या [न हि देशिताः] नहीं कही हैं? [ताः] वे क्रियाएँ [त्वयि] आपमें [प्रसृतभक्तिभिः] भक्ति रखने वाले [श्रावकैः] श्रावकों ने [स्वयं अनुष्ठिताः] स्वयं अनुष्ठान में कर ली हैं।

अर्थ : हे भगवन्! मोक्ष की, स्वर्ग आदि के सुख देनेवाली, चैत्य

बनाना, दान देना, पूजन करना आदि क्रियाएँ देखा जाय तो प्राणी को कष्ट देने वाली और घात करने वाली हैं। भगवन्! आप तो हिंसा से रहित हैं, फिर आप दूसरे प्राणी की हिंसा करने वाली क्रिया का उपदेश कैसे दे सकते हो? परन्तु यह उपदेश तो आपने केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि से दिया है। चैत्य [प्रतिमा], जिनालय, आहारदान, पूजन आदि रूप क्रियाएँ तो ऐसी हैं, जिनसे जीवों का घात होता है और मोक्ष, स्वर्ग आदि सुख की क्रियाएँ तपश्चरण करनेवाले जीव को पीड़ा पहुँचाती हैं तथा उनसे भी शरीरगत बहुत से जीवों का घात होता है। ये क्रियाएँ क्या आपने नहीं कही हैं? क्या आपमें भक्ति रखनेवाले श्रावकों ने इनका अनुष्ठान स्वयं कर लिया है? यहाँ 'किं नु' अव्यय पद 'क्या' अर्थ में 'अनुष्ठिता' क्रिया के साथ करने से यह अर्थ होता है और इसी 'किं नु' का 'देशिता' के साथ सम्बन्ध रखने से अर्थ होगा कि क्या ये क्रियाएँ भगवन् आपने नहीं कही हैं? आपमें भक्ति रखने वाले श्रावकों ने उन्हें स्वयं बना लिया है। यहाँ पर स्तुतिकार ने भगवान् से प्रश्न किया है और इसका उत्तर आगे की कारिका में दिया जा रहा है।

॥ श्रुतप्रमाण से सब क्रियाएँ जानी जाती हैं ॥

त्वया त्वदुपदेशकारि-पुरुषेण वा केनचित्
कथंचिदुपदिश्यते स्म जिन! चैत्यदान-क्रिया।
अनाशकविधिश्च केशपरिलुञ्चनं चाथवा
श्रुतादनिधनात्मका-दधिगतं प्रमाणान्तरात्॥ 38॥

जिनपूजा जिनचैत्यालय में, मुनि को दान धर्म करना
प्रथम आप उपदेश रहा है फिर गणधर, मुनि का कहना।
आत्म मुक्ति की विधि अविनाशी केशलोंच का श्रमणाचार
श्रुत प्रमाण से जाना जाता आदि अन्त बिन श्रुत आधार॥38॥

अन्वयार्थ : [जिन!] हे जिनेन्द्र! [त्वया] आपने [वा] अथवा [केनचित्] किसी [त्वदुपदेशकारिपुरुषेण] आपका उपदेश करने वाले पुरुष ने [कथंचित्] कथंचित् [चैत्यदानक्रिया] चैत्य, दानक्रिया [उपदिश्यते स्म] कही है [च] और [अनाशकविधिः] आत्मा की विधि [केशपरिलुंचनं] केशलुंचन [अथवा] अथवा [प्रमाणान्तरात्] किसी अन्य प्रमाण से [अनिधनात्मकात्] अविनाशी [श्रुतात्] श्रुत से [अधिगतं] जानी है।

अर्थ : हे जिनेन्द्र भगवन्! यह चैत्य, चैत्यालय बनाने का उपदेश, दान आदि का उपदेश प्रथम तो आपने ही दिया है। बाद में आपके उपदेश को सुनकर किसी गणधर आदि पुरुष ने आपका उपदेश दूसरों को दिया है, इसलिए गणधर आदि पुरुष भी कथंचित् यह उपदेश प्रदायक हैं। आत्मा की प्राप्ति के उपाय, ब्रह्मचर्य आदि व्रत और केशलुंचन आदि क्रियाएँ श्रुतप्रमाण से जानी जाती हैं। श्रुत अनादि-अनिधन है। आगमप्रमाण से इन क्रियाओं की प्रामाणिकता जानी जाती है।

युग की आदि में स्वयम्भू भगवान् आदिनाथ ने अपने अवधिज्ञान से विदेहक्षेत्र में चलने वाली इस विधि को स्वयं अपनाया और मुनि बनकर केशलोंच आदि क्रियाओं में प्रवृत्त हुए। अतः यह श्रुत किसी का किया हुआ नहीं है। सभी इस उपदेश को प्रमाण मानकर आत्मलाभ प्राप्त करते हैं।

॥ आपका मत बहुत गहन है॥

न चासुपरिपीडनं नियमतोऽशुभायेष्यते
त्वया न च शुभाय वा नहिं च सर्वथा सत्यवाक्।
न चापि दमदानयोः कुशलहेतुतैकान्ततो
विचित्र-नयभङ्गजाल-गहनं त्वदीयं मतम्॥ 39॥

नहीं सदा एकान्त रूप से पाप पुण्य का वध कारण
नहीं तथा एकान्त रूप से सत्य अहिंसा शुभ कारण।
इन्द्रियदमन, दान, पूजा में नहीं सर्वथा पुण्य कहा
मुख्य बना उद्देश्य क्रिया का नय भंगों से विस्मय हा॥ 39॥

अन्वयार्थ : [असुपरिपीडनं] किसी के प्राणों को दुःख पहुँचाना [नियमतः] नियम से [अशुभाय] अशुभ के लिए [न च] भी नहीं [इष्यते] स्वीकारा है [त्वया] आपने [शुभाय] शुभ के लिए [न च] नहीं कहा है [वा] तथा [सर्वथा] एकान्त से [सत्यवाक्] सत्यवचन बोलना [न हि च] शुभ के लिए नहीं है [एकान्ततः] एकान्त रूप से [दम-दानयोः] दम, दान में [अपि] भी [कुशलहेतुता] पुण्य की कारणता [न च] नहीं है। [त्वदीयं] आपका [मतं] मत [विचित्रनयभङ्गजालगहनं] विचित्र नयों के भंगसमूह से बड़ा गहन है।

अर्थ : आचार्य देव यहाँ अनेकान्त धर्म की महिमा दिखाते हैं। पहले कहा था कि किसी के प्राणों को दुःख देना नियम से अशुभ, पाप के लिए है, कर्मबन्ध के लिए है, तो इस विषय में भी नियामकता नहीं है। चैत्य, चैत्यालय बनाने में, आहार आदि दान में, पूजा करने में भी हिंसा होती है, किन्तु वह हिंसा एकान्ततः पाप के बन्ध का कारण नहीं है। परिणामों की विशुद्धि होने से और विशुद्धि का कारण होने से ये क्रियाएँ धर्म हैं, पुण्य हैं, शुभ के लिए हैं। प्राणों को पीड़ा तो शरीर से तपस्या करने में भी होती है, लेकिन प्रयोजन, उद्देश्य उन्हें दुःख देने का नहीं होने से पाप के लिए कारण नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि प्राणी हिंसा से नियम से शुभ ही होता है, जिससे कि तुम उसी में प्रवृत्त रहो और यज्ञ आदि हिंसा को धर्म कहने लगो। यह अहिंसाधर्म का अनेकान्त है।

इसी तरह एकान्त से सत्य वचन बोलना शुभ के लिए नहीं होता

है। यदि सत्य बोलने से कोई किसी की हिंसा कर दे, किसी के ऊपर आपत्ति आ जावे, ऐसा सत्य भी बोलना पाप का कारणभूत है।

इसी तरह एकान्त रूप से इन्द्रियदमन, दान आदि में पुण्य नहीं होता है। इन्द्रियदमन करके भी कुछ लोग अहिंसा से दूर रहते हैं, इसलिए उनका दम, त्याग भी शुभ के लिए सर्वथा नहीं होता है।

इसी तरह दान देने से भी पुण्य नहीं होता है क्योंकि दान देने में पात्र, कुपात्र का विचार भी किया जाता है। इसलिए दम, दान भी नियमतः कुशलता, पुण्य का हेतु नहीं है। हे भगवन्! आपका मत अद्वितीय है। अनेक नयों के भंगजाल से आपका मत बहुत गहन है।

॥ 'जिन' आप ही हैं॥

त्वयापि सुखजीवनार्थ-मिह शासनं चेत्कृतं
कथं सकलसंग्रह-त्यजनशासिता युज्यते।
तथा निरशनार्द्ध-भुक्तिरसवर्जनाद्-युक्तिभि-
जितेन्द्रियतया त्वमेव जिन इत्यभिख्यां गतः ॥40॥

इन्द्रिय सुख से सुखी रहें सब, ऐसा यदि तव मत होता
सकल परिग्रह छोड़ बसो वन, यह उपदेश नहीं होता।
अनशन, ऊनोदर, रस तजना, तपो जितेन्द्रिय तुम बनना
इस प्रकार का कथन बनाया 'जिन' संज्ञा जिनवर गहना ॥40॥

अन्वयार्थ : [त्वया अपि] आपने भी [चेत्] यदि [इह] यहाँ [सुख-जीवनार्थं] सुख से जीवन चलाने के लिए [शासनं] शासन [कृतं] बनाया है तो [सकल-संग्रह-त्यजनशासिता] समस्त परिग्रह के त्याग का उपदेश [कथं] कैसे [युज्यते] उचित होता [तथा] तथा [निरशनार्द्धभुक्ति-रसवर्जनाद्युक्तिभिः] अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग आदि कथन के द्वारा [जितेन्द्रियतया] जितेन्द्रियपना होने से

[त्वम् एव] आप ही [जिन] 'जिन' [इति] इस प्रकार [अभिख्यां गतः] संज्ञा को प्राप्त हुए हैं।

अर्थ : हे भगवन्! आपने सुख से जीवन चलाने के लिए यह शासन नहीं बनाया है। इन्द्रिय सुख, विषय-कषायों की पुष्टि के लिए आपका शासन नहीं है। यदि ऐसा होता तो आप समस्त संग्रह, परिग्रह के त्याग का उपदेश क्यों देते? यह उपदेश कैसे आपके लिए उचित होता? आपने न केवल इन्द्रियसुख से दूर रहने का उपदेश दिया, अपितु अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग आदि बाह्य तप का आपने आचरण किया है। आप जितेन्द्रिय हैं। आपके अन्दर जितेन्द्रियता होने से ही आप 'जिन' इस संज्ञा को प्राप्त हैं। यह 'जिन' संज्ञा अन्यथा आपको प्राप्त नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि आपका शासन जितेन्द्रियपन का है, इन्द्रिय सुख का नहीं।

॥ श्वेताम्बर मत खण्डन ॥

जिनेश्वर! न ते मतं पटकवस्त्र-पात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वय-मशक्तकैः कल्पितः॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥ 41॥

हे जिनेन्द्र! कैसे तव मत में वस्त्र पात्र का ग्रहण बना
सुख लोभी असमर्थ जनों का मत 'जिन' संज्ञा ग्रहण बना।
समीचीन पथ यदि यह होता आप दिगम्बर क्यों बनते
सुलभ हाथ में फल यदि होवे कष्ट उठा क्यों तरु चढ़ते॥41॥

अन्वयार्थ : [जिनेश्वर!] हे जिनेश्वर! [ते] आपके [मतं] मत में [पटक-वस्त्र-पात्रग्रहः] रुई का कपड़ा, वस्त्र, पात्र का ग्रहण [न]

नहीं है [सुखकारणं] सुख का कारण [विमृश्य] विचार करके [स्वयं] स्वयं ही [अशक्तकैः] असमर्थ जनों ने [कल्पितः] कल्पना कर ली है [अथ] यदि [अयं अपि] यह भी [सत्पथः] समीचीन पथ हो तो [तव] आपकी [नग्नता] नग्नता [वृथा भवेत्] व्यर्थ ही ठहरे! [हस्तसुलभे] हस्तसुलभ [फले सति] फल होने पर [तरुः] वृक्ष पर [समारुह्यते न] आरोहण नहीं किया जाता है।

अर्थ : हे जिनेश्वर! आपके मत में किसी भी प्रकार के वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण नहीं है। आपने परिग्रह का सर्वथा त्याग किया है और समस्त परिग्रह से रहित पुरुष को ही मुक्ति का पात्र बताया है। फिर भी इस पंचमकाल में कुछ लोग आपके मत में रहकर वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करते हैं और रजोहरण आदि ऊन के वस्त्र रखते हैं। हे भगवन्! यह आपका मत नहीं है, यह तो नग्न रहने में, परिग्रहरहित होकर जीवन चलाने में और परीषह, कष्ट सहन न करने वाले असमर्थ लोगों ने स्वयं ही अपनी व्यवस्था बना ली है। वस्त्र, पात्र आदि के ग्रहण करने में सुख है, ऐसा विचार कर अपने अलग मार्ग की कल्पना कर ली है। वास्तव में यदि वस्त्र, पात्र आदि को ग्रहण करना ही सत्पथ होता तो आप नग्न, सर्वपरिग्रह से रहित क्यों होते? यदि इनका मार्ग सत्य हो जावे तो आपकी नग्नता का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा? सुख के साथ जो फल हाथ में स्वयं सुलभ हो रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए भला कोई वृक्ष पर चढ़ने का कष्ट क्यों उठायेगा? इसी तरह केवलज्ञान, मुक्ति की प्राप्ति, कर्म की निर्जरा यदि परिग्रह के साथ होती तो नग्न रहकर परीषह सहन का कष्ट उठाने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आपका दिगम्बर रहना और दिगम्बरत्व पथ ही समीचीन है।

॥ परिग्रहवालों को शुक्लध्यान नहीं ॥

परिग्रहवतां सतां भय-मवश्य-मापद्यते
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृती।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥ 42 ॥

वस्त्र आदिक परिग्रह जो रखते वे भयभीत सदा रहते
हिंसा करते क्रोध भाव से कठिन असत्य तथा कहते।
ममता से चोरी भी होवे मन में विभ्रम चिन्ता हो
कैसे उनको शुक्ल ध्यान की निश्चलता हो समता हो? ॥42 ॥

अन्वयार्थ : [परिग्रहवतां] परिग्रह रखने वाले [सतां] पुरुषों को [भयं] भय [अवश्यं] अवश्य [आपद्यते] प्राप्त होता है [च] और [प्रकोप-परिहिंसने] प्रकोप, हिंसा में [परुषानृतव्याहृती] कठोर, असत्य वचन है [अथ] तथा [चोरतः] चोरी से [ममत्वं] ममत्व [च] और [स्वमनसः] अपने मन का [विभ्रान्तता] विभ्रान्तपन होता है [कलुषात्मनां] कलुष आत्माओं को [परमशुक्ल-सद्ध्यानता] परम शुक्ल सद्ध्यानता [कुतः हि] कैसे हो सकती है?

अर्थ : वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह को धारण करने वाले प्राणियों के पास भय अवश्य बना रहता है। मेरा पात्र टूट न जाय, खो न जाय, वस्त्र फट न जाय इत्यादि रूप भय पर-वस्तु के संयोग से होता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ कोप भी होता है। परिग्रह से हिंसा भी अवश्य है। अन्तरङ्ग में कोप होना भावहिंसा है तथा अन्य प्राणी का घात होना द्रव्यहिंसा है। हिंसा करनेवाला कठोर वचन और असत्य भाषण करता है। इसी तरह चोरी पाप भी परिग्रह के कारण आता है। चोरी करने से ममतापन होता है। इसी से मन में भ्रान्ति पैदा होती है। अथवा 'च' शब्द से कुशील पाप का ग्रहण करना।

कुशील पाप में रत रहने वालों के मन में पागलपन बना रहता है। इस तरह परिग्रह पाँचों पापों को जन्म देनेवाला है। कोप, ममत्व, विभ्रान्ति आदि से जिनका मन कलुष है, उन्हें भला परम शुक्ल ध्यान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? शुक्लध्यान ही केवलज्ञान का कारण है। शुक्लध्यान के अभाव में केवलज्ञान का अभाव होने से ऐसे प्राणियों की मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

॥ पात्र में भोजन इकट्ठा करके खाने का दोष॥

स्वभाजनगतेषु पेय-परिभोज्यवस्तुष्वमी
यदा प्रतिनिरीक्षितास्तनुभृतः सुसूक्ष्मात्मिकाः।
तदा क्व चि-दपोज्झने मरणमेव तेषां भवे
दथाप्यभि-निरोधनं बहुतरात्म-संमूर्च्छनम्॥ 43॥

एक पात्र में मिला घोलकर भोजन पान किया करते
सूक्ष्म जीव की उत्पत्ति को भले देख लें क्या करलें?
रहा असम्भव उन्हें हटाना सतत जीव का जन्म रहे
यदि निकालते मरण सुनिश्चित कैसे भोजन शुद्ध रहे॥ 43॥

अन्वयार्थ : [पेय-परिभोज्यवस्तुषु] पेय पदार्थ और भोज्य वस्तुओं का [स्वभाजनगतेषु] अपने भाजन में आने पर [यदा] जब [प्रतिनिरीक्षिताः] पुनः देखा जाता है तो [अमी] यह [सुसूक्ष्मात्मिकाः] अत्यन्तसूक्ष्म [तनुभृतः] प्राणी [तदा] तब [क्वचित्] कभी [तेषां] उन जीवों के [अपोज्झने] हटाने में [मरणं एव] मरण ही [भवेत्] होता है [अथाऽपि] और फिर [बहुतरात्मसम्मूर्छनम्] बहुत से सम्मूर्छन जीवों का [अभिनिरोधनं] रुकना सम्भव नहीं है।

अर्थ : जो लोग एक ही बर्तन में सभी प्रकार की भोज्य वस्तुएँ

रखकर मिश्रण कर लेते हैं, उसी पात्र में रस, दूध आदि पेय पदार्थ भी रख लेते हैं। ऐसी स्थिति में बहुत सूक्ष्मरूप जन्तुओं की उत्पत्ति उस पात्र में निरीक्षण करने पर देखी जाती है। उन जीवों को उस पात्र में से निकालना असम्भव होता है। यदि निकाल भी देते हैं तो उन जीवों का मरण निश्चित हो जाता है। कोई जीव बाहर से आकर यदि पात्र में गिर पड़ता है, तो अन्तराय करना नहीं बन सकता है। यदि अन्तराय करते हैं तो बहुत से भोजन के व्यर्थ फेंकने का दोष आता है। यदि देखनेवाले जीवों को हटाने का उपक्रम कर भी लिया जाय तो भी निरन्तर उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति कोई नहीं रोक सकता है। यहाँ अन्तिम पद में 'नास्ति' क्रिया पद का अध्याहार कर लेना चाहिए।

॥ दिगम्बरों को कर्मबन्ध नहीं ॥

दिगम्बरतया स्थिताः स्वभुज-भोजिनो ये सदा
प्रमाद-रहिताशयाः प्रचुरजीव-हत्यामपि।
न बन्धफलभागिनस्त इति गम्यते येन ते
प्रवृत्त-मनुबिभ्रति स्वबलयोग्य-मद्याप्यपि॥ 44॥

पात्र हाथ को बना दिगम्बर रूप धारकर खड़े हुए
अप्रमत्त हो भोजन करते प्राणी वध अघ दूर हुए।
जब तक जंघा में बल तब तक स्वयं खड़े हो भोजन लें
ऐसे मुनि जन आज समय भी तन का वेतन भोजन लें॥44॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [दिगम्बरतया] दिगम्बर रूप से [स्थिताः] स्थित हुए [सदा] सदा [स्वभुजभोजिनः] अपनी भुजा [हाथ] में भोजन करते हैं [प्रमादरहिताशयाः] प्रमादरहित आशय वाले हैं, वे [प्रचुरजीवहत्यां अपि] प्रचुर जीवहत्या में भी [बन्धफलभागिनः] बन्धफल के भागी [न] नहीं हैं [इति] इस प्रकार [गम्यते] जाना

जाता है [येन] जिससे [ते] वे [प्रवृत्तं] उसी चलन को [अनुबिभ्रति] धारण करते हैं [अद्य अपि] आज भी [अमी] ये दिगम्बर लोग [स्वबलयोग्यं] अपने बल के योग्य उसी प्रवृत्ति को करते हैं।

अर्थ : जो दिगम्बर रूप से सदैव रहते हैं तथा अपने हाथ में भोजन करते हैं, वे प्रमादरहित होते हैं। पाणिपात्र में भोजन करनेवाले अपने हाथ में आये हुए आहार को भी अप्रमत्त होकर शोधन करते हैं, तब आहार ग्रहण करते हैं। प्रमाद रहित उन दिगम्बरों को भोजन बनाने में होने वाली प्रचुर जीवहिंसा का दोष ही नहीं लगता है। कदाचित् उन दिगम्बरों से कभी कोई प्रचुर जीवहिंसा भी हो जाय, तो भी उन्हें पाप का बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वे अप्रमत्त हो सावधानी से प्रवृत्ति करते हैं। करपात्र में आहार करनेवाले उन मुनियों के भोजन में कभी कोई जीवहिंसा नहीं होती है। यदि फिर भी उनके हाथ में गिरकर कोई जीव मर जाता है, तो भी उन्हें उसका पापबन्ध नहीं होता है, क्योंकि वे अप्रमत्त होते हैं। अन्तराय कर देना भी उनके लिए सुलभ होता है। आज भी दिगम्बर मुनिराज अपने बल के योग्य उसी आचरण का अनुपालन करते हैं। अप्रमत्त वही हो सकता है, जो परिग्रह रहित होता है। ऐसे निष्परिग्रही श्रमणों को भावहिंसा और द्रव्यहिंसाजन्य कर्मबन्ध कथमपि नहीं होता है। जब तक हमारी जंघा में खड़े होकर भोजन करने की सामर्थ्य है, तभी तक हम आहार ग्रहण करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा को धारण कर आहार करनेवाले दिगम्बर मुनि आज भी हैं।

॥ प्राणीपीड़ा से तप भी हिंसा है॥

यथागमविहारिणा-मशनपानभक्ष्यादिषु
प्रयत्नपरचेतसा-मविकलेन्द्रिया-लोकिनाम्।
कथञ्चि-दसुपीडनाद्-यदि भवेदपुण्योदय-
स्तपोपि वध एव ते स्वपरजीवसन्तापनात्॥ 45॥

अशन, पान भक्ष्यादि विषय में आगम के अनुरूप चलें
इन्द्रिय संयम पालन में रत सावधान मन हो संभलें।
प्राणों की पीड़ा होने से पाप भाव को प्राप्त करे
निज-पर की हिंसा होने से तप भी 'वध' का नाम धरे॥45॥

अन्वयार्थ : [अशनपान-भक्ष्यादिषु] भोजन, पान, भक्ष्य आदि पदार्थों में [यथागमविहारिणां] आगम के अनुसार विहार करने वाले [प्रयत्न-पर-चेतसां] प्रयत्न में तत्पर चित्तवाले [अविकलेन्द्रियालोकिनां] पूर्णरूप से इन्द्रियों से देखनेवाले श्रमणों को [कथंचित्] कथंचित् [असुपीडनात्] प्राणों की पीड़ा होने से [यदि अपुण्योदयः] पाप का उदय [भवेत्] होवे [ते] तो उनका [तपः अपि] तप भी [स्वपरजीव-सन्तापनात्] स्व-पर जीव को सन्ताप देने से [वधः एव] वध ही है।

अर्थ : जो श्रमण आगम के अनुसार विहार करते हैं, जो सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं और सम्पूर्णतया इन्द्रियज्ञान से पदार्थों को देखते हैं, जानते हैं, उनको भी यदि कभी थोड़ा-सा भोजन, पान, भक्ष्य आदि विषयों में जीवघात हो जावे तो पाप का उदय आ जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रमणों को भोजन, पान आदि के विषय में प्रवृत्ति करते हुए प्राणी को पीड़ा न पहुँचे, किसी भी जीव का वध न होवे, यह ध्यान रखना चाहिए। अपने भोजन, पान में तथा वैयावृत्य के निमित्त अन्य के भोजन, पान आदि में भी प्राणियों को पीड़ा न हो। यदि जीवघात होता है तो पाप का उदय समझना। देखभाल कर प्रवृत्ति करनेवाला श्रमण भी यदि प्राणीपीड़ा का कार्य करता है तो स्वयं भी उसका संक्लेश भाव बढ़ेगा, उसका गुणस्थान गिर जाने से स्व का घात होगा। उस श्रमण का वह वैयावृत्य आदि तप भी स्व, पर जीव को ताप पहुँचाने से हिंसा ही है। स्वयं अनशन आदि

तप करके प्राणी पीड़ा के साथ भोजन, पान आदि में प्रवृत्ति करे तो उस अनशन तप का भी कोई लाभ नहीं है, वह तप भी वध ही है, ऐसा समझना।

॥ दिगम्बर साधु की चर्या निर्दोष है ॥

मरु ज्ज्वलन-भूपयःसु नियमात्-क्व चिद् युज्यते
परस्पर-विरोधितेषु विगतासुता सर्वदा।
प्रमाद-जनितागसां क्वचि-दपोहनं स्वागमात्
कथं स्थितिभुजां सतां गगनवाससां दोषिता ॥ 46 ॥

भू-जल आदिक एकेन्द्रिय का घात नियम से होता है
यदि विरोध या द्वेष किसी से हिंसा पातक होता है।
इन प्रमादगत दोषों को जो आगम से नित दूर करे
स्थितिभोजी उन दिगम्बरों को दोष नहीं गुणपूर अरे! 46॥

अन्वयार्थ : [मरुज्ज्वलन-भू-पयःसु] हवा, अग्नि, पृथिवी और जल में [नियमात्] नियम से [क्वचित्] कहीं [विगतासुता] प्राणों का हनन [युज्यते] हो जाता है [परस्परविरोधितेषु] परस्पर में विरोधी जीवों में प्राणी वध [सर्वदा] हमेशा है [प्रमादजनितागसां] प्रमाद से उत्पन्न पापों का [क्वचित्] कहीं [स्वागमात्] अपने आगम से [अपोहनं] हटाना होता है [स्थितिभुजां] खड़े होकर भोजन करने वाले [गगनवाससां] दिगम्बर [सतां] साधुओं को [दोषिता] दोषपना [कथं] कैसे हो?

अर्थ : परस्पर में विरोध रखने वाले जीवों में द्वेषभाव रहने से अन्तरङ्ग में हिंसा पलती है, जिससे प्राणों का घात एवं हिंसा हमेशा बनी रहती है। जिनके एकेन्द्रिय आदि जीवों की समस्त हिंसा का त्याग है, उनको हवा, अग्नि, पृथिवी, जल के विषय में काय आदि की चेष्टा से कहीं-कहीं नियम से हिंसा होती है। आहार, विहार आदि में

तथा प्रतिष्ठापन समिति के निमित्त से इन पृथिवीकायिक जीव आदि की हिंसा में नियम से कहीं जुड़ जाता है। प्रमाद से लगे दोषों को आगम की विधि से दूर कर लेता है। प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि उपक्रम ऐसे ही प्रमादजनित दोषों को हटाने के लिए हैं और आत्मा में पुनः स्थापित होने के लिए हैं। दिगम्बर श्रमण बिना किसी आलम्बन के खड़े होकर निरीह वृत्ति से आहार करते हैं, ऐसे अलिप्त, निःस्पृह भावों से रहनेवाले श्रमणों को क्या दोष हो सकता है? अर्थात् आहार-पान करते हुए भी दिगम्बर मुनियों को कोई दोष नहीं लगता है।

॥ मोक्ष क्या है? ॥

परैरनघ! निर्वृतिः स्वगुणतत्त्वविध्वंसनं
व्यघोषि कपिलादिभिश्च पुरुषार्थविभ्रंशनम्।
त्वया सुमृदितैनसा ज्वलितकेवलौघश्रिया
ध्रुवं निरुपमात्मकं सुख-मनन्त-मव्याहतम् ॥ 47 ॥

निजगुण क्षय वा तत्त्वनाश से मोक्ष मानते अन्य मती
कपिल आदि पुरुषार्थ बिना ही मोक्ष कल्पना की रख धी।
पापरहित जिनवर के मत में पाप नाश से केवलज्ञान
फिर ध्रुव, निरुपम, अविनश्वर सुख मोक्ष कहाता बहुत महान्॥47॥

अन्वयार्थ : [अनघ!] हे पापरहित भगवन्! [परैः] अन्य दार्शनिकों ने [निर्वृतिः] मोक्ष [स्वगुणतत्त्वविध्वंसनं] अपने गुणों और स्वतत्त्व का नाश होना [व्यघोषि] कहा है, [कपिलादिभिः च] और कपिल आदि ने भी [पुरुषार्थविभ्रंशनं] पुरुषार्थ का नाश होना कहा है [त्वया] आप [सुमृदितैनसा] पाप का अच्छी तरह मर्दन करने वाले भगवान् ने [ज्वलितकेवलौघश्रिया] प्रकाशमान केवलज्ञान समूह की लक्ष्मी से [ध्रुवं] ध्रुव [निरुपमात्मकं] निरुपम स्वरूप [अनन्तं] अनन्त [अव्याहतं] अविनश्वर [सुखं] सुख को मोक्ष कहा।

अर्थ : नैयायिक और वैशेषिक मत वाले मानते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि विशिष्ट गुणों का और प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्वों के नाश से मुक्ति होती है। उन गुणों का अभाव मोक्ष है। कपिल आदि ने मुक्ति के लिए पुरुषार्थ का अभाव ही कर दिया है। हे भगवन्! ये लोग न पाप रहित थे और न सर्वज्ञ। सर्वथा पापरहित आत्मा ही केवलज्ञान को प्राप्त करता है, वही संसार और मोक्ष की सही व्यवस्था कह पाता है। आपके मत में मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि गुणों का सर्वथा नाश न होकर क्षायोपशमिक अवस्था का नष्ट होना कहा है। उस मुक्ति में ज्ञान, सुख आदि गुण अविनश्वर, क्षायिक रहते हैं। इसी तरह मुक्ति में परम-पारिणामिक भाव, क्षायिक भाव ध्रुव रहते हैं। वह मुक्ति सुख अनुपम और अनन्त है। आपके मत में पुरुषार्थ का नाश नहीं है, किन्तु आत्मा पुरुषार्थ से ही बद्ध दशा को छोड़कर अबद्ध दशा प्राप्त करता है। सांख्य मत में पुरुषार्थ इसलिए कार्यकारी नहीं है, क्योंकि जो आत्मा बद्ध है, वह बद्ध ही रहेगा और जो मुक्त है, वह मुक्त ही रहेगा। इस तरह हे भगवन्! आपके मत में मोक्षपुरुषार्थगम्य एवं स्वकीय आत्मगुणों से सहित ध्रुव, अनुपम और अविनाशी है।

॥ मोक्ष अभावात्मक नहीं है ॥

निरन्वय-विनश्वरी जगति मुक्ति-रिष्टापरै-
र्न कश्चिदिह चेष्टते स्वव्यसनाय मूढेतरः।
त्वयाऽनुगुणसंहते-रतिशयोप-लब्ध्यात्मिका
स्थितिः शिवमयी विभो! प्रवचने तव ख्यापिता ॥ 48 ॥

अन्वय रहित विनाशी मुक्ति मान रहे जग में कुछ लोग
जिस कारण का फल निज को ना कौन छोड़ना चाहे भोग?
कौन सुधी दुःख नाशक चेष्टा यहाँ नहीं करता है आप
गुण समूह सद्भाव स्वभावी मोक्षमयी स्थिति है आप ॥48॥

अन्वयार्थ : [विभो!] हे प्रभो! [परैः] अन्य लोगों ने [जगति] संसार में [निरन्वयविनश्वरी] अन्वयरहित विनाशी [मुक्तिः] मुक्ति [इष्टा] मानी है [इह] इस लोक में [कश्चित्] कौन [मूढेतरः] बुद्धिमान् [स्वव्यसनाय] अपने दुःख के लिए [न चेष्टते] चेष्टा नहीं करता है [त्वया] आपके द्वारा [अनुगुणसंहतेः] गुणों के समूह के अनुरूपता से [अतिशयोपलब्ध्यात्मिका] अतिशय उपलब्धिस्वरूप मुक्ति [तव] आपके [प्रवचने] उपदेश में [शिवमयी] मोक्षमयी [स्थितिः] स्थिति [ख्यापिता] कही है।

अर्थ : बौद्ध आदि कुछ लोगों ने पदार्थ को क्षणभंगुर, सर्वथा अनित्य माना है। पदार्थ की द्रव्यात्मक सत्ता का अभाव होने पर उसमें पर्यायों की अन्वयता नहीं बन पाती है। पदार्थ का निरन्वय नाश स्वीकार करने पर मुक्ति में उसी द्रव्य की अन्वयता का अभाव होगा, जो द्रव्य मुक्ति के लिए पुरुषार्थ कर रहा है। भला ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा, जो मुक्ति के लिए, अपने दुःख के नाश के लिए प्रयत्न करे और उसका उसे फल कुछ भी न मिले। यदि आज किया हुआ तपश्चरण आदि आगे सुख नहीं दे तो कौन तपस्या करके दुःख मिटाने का प्रयास करेगा? इसलिए हे भगवन्! आपके द्वारा आपके उपदेश में जो मुक्ति कही है वही मुक्ति अतिशय उपलब्धि रूप है। उस मुक्ति की प्राप्ति पहले कभी नहीं हुई और उसके सुख की कोई दूसरी तुलना नहीं है। अनन्त गुणों के समूह की शुद्ध दशा का अनुभव करानेवाली होने से मोक्षमयी स्थिति ही मुक्ति है।

॥ भक्ति मोक्ष का साधन है ॥

इयत्यपि गुणस्तुतिः परमनिर्वृतेः साधनी
भवत्यलमतो जनो व्यवसितश्च तत्कांक्षया।

विरंस्यति च साधुना रुचिरलोभलाभे सतां
मनोभि-लषिताप्ति-रेव ननु च प्रयासावधिः ॥49॥

यह थोड़ी सी संस्तुति भी जिन! परम मोक्ष की साधन है
इसी चाह से साधुजनों को जिनभक्ति आराधन है।
मनवांछित वस्तू मिलने पर सज्जन जन होते संतुष्ट
तब तक ही पुरुषार्थ साधना जब तक मन ना होवे पुष्ट ॥49॥

अन्वयार्थ : [इयती अपि] इतनी भी [गुणस्तुतिः] गुणों की स्तुति [परमनिर्वृतेः] परम निर्वृति की [अलं] पर्याप्त [साधनी] साधन [भवति] है [अतः] इसलिए [च तत्काङ्क्षया] उस कांक्षा से [जनः] मनुष्य [व्यवसितः] व्यवसाय करता है [च] तथा [साधुना] साधुपुरुष [रुचिरलोभलाभे] इच्छित लोभ का लाभ होने पर [विरंस्यति] विराम को प्राप्त हो जाता है [सतां] सज्जनों के [मनोऽभिलषिताप्तिः] मन की अभिलषित वस्तु की प्राप्ति [एव] ही [ननु च] निश्चित रूप से [प्रयासावधिः] प्रयास की सीमा है।

अर्थ : परमनिर्वृति मोक्ष को कहते हैं। यह स्तुति जो अभी तक की है, इतनी मात्र भी परम मोक्ष के लिए पर्याप्त साधन है। भक्ति, स्तुति से मोक्ष की साधना होती है, इसी आकांक्षा से मनुष्य आपकी स्तुति में लगता है। मनुष्य के मन में लोभ के कारण इच्छा उत्पन्न होती है, उसी तरह आपकी स्तुति करने की इच्छा की पूर्ति हो जाने से मन सन्तुष्ट हुआ है। वस्तुतः साधु पुरुष तब तक ही किसी विषय में प्रयास करते हैं, जब तक उनके मन की इच्छा पूर्ण नहीं होती है। इसी तरह हमारे मन में आपकी भक्ति रूपी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हुई है और इसी भक्ति से मेरा यह प्रयत्न पूर्ण हो गया है।

॥ भक्ति ही मुक्ति देती है ॥

इति मम मतिवृत्या संहतिं त्वद्गुणाना-
मनिशममितशक्तिं संस्तुवानस्य भक्त्या।
सुखमनघमनंतं स्वात्मसंस्थं महात्मन्
जिन! भवतु महत्या केवलं श्रीविभूत्या॥50॥

इस प्रकार निज मति अनुसार आप अपरिमित गुण का गान
भक्ति भाव से पूर्ण हर्ष से संस्तुति करता जो मतिमान।
स्वर्ग सुखों की लक्ष्मी पहले प्राप्त करे फिर केवलज्ञान
सदा सदा वह अनुभव करता सुख निष्पाप अनन्त वितान॥50॥

अन्वयार्थ– [इति] इस प्रकार [मम] मेरी [मतिवृत्या] बुद्धि की प्रवृत्ति से [त्वत् गुणानां] आपके गुणों के [अमितशक्तिं] अपरिमित शक्ति [संहतिं] समूह की [अनिशं] निरन्तर [संस्तुवानस्य] स्तुति करने वाले पुरुष को [भक्त्या] भक्ति के द्वारा [जिन!] हे जिनेन्द्र! [महात्मन्] हे महात्मन्! [महत्या] महती [श्रीविभूत्या] लक्ष्मी, वैभव के साथ [केवलं] केवलज्ञान और [अनघं] निष्पाप [अनन्तं] अनन्त [स्वात्मसंस्थं] अपनी आत्मा में स्थित [सुखं] सुख [भवतु] होवे।

अर्थ : इस प्रकार हे जिन! आपकी स्तुति मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार की है। आपके गुणों का समूह अद्‌भुत शक्तिवाला है। उन गुण समूहों की स्तुति जो भक्ति से करता है, उस स्तुतिकार को स्वर्गसम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी सभी प्रकार की लक्ष्मी, वैभव आदि की प्राप्ति होती है। हे महात्मन्! इसी भक्ति से परम्परा कारणरूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर अपनी आत्मा में स्थित पाप रहित, अनन्तसुख भी प्राप्त होता है। इस तरह हे भगवन्! आपकी स्तुति ही लौकिक और अलौकिक वैभव प्रदान करने वाली है।

॥ इति ॥

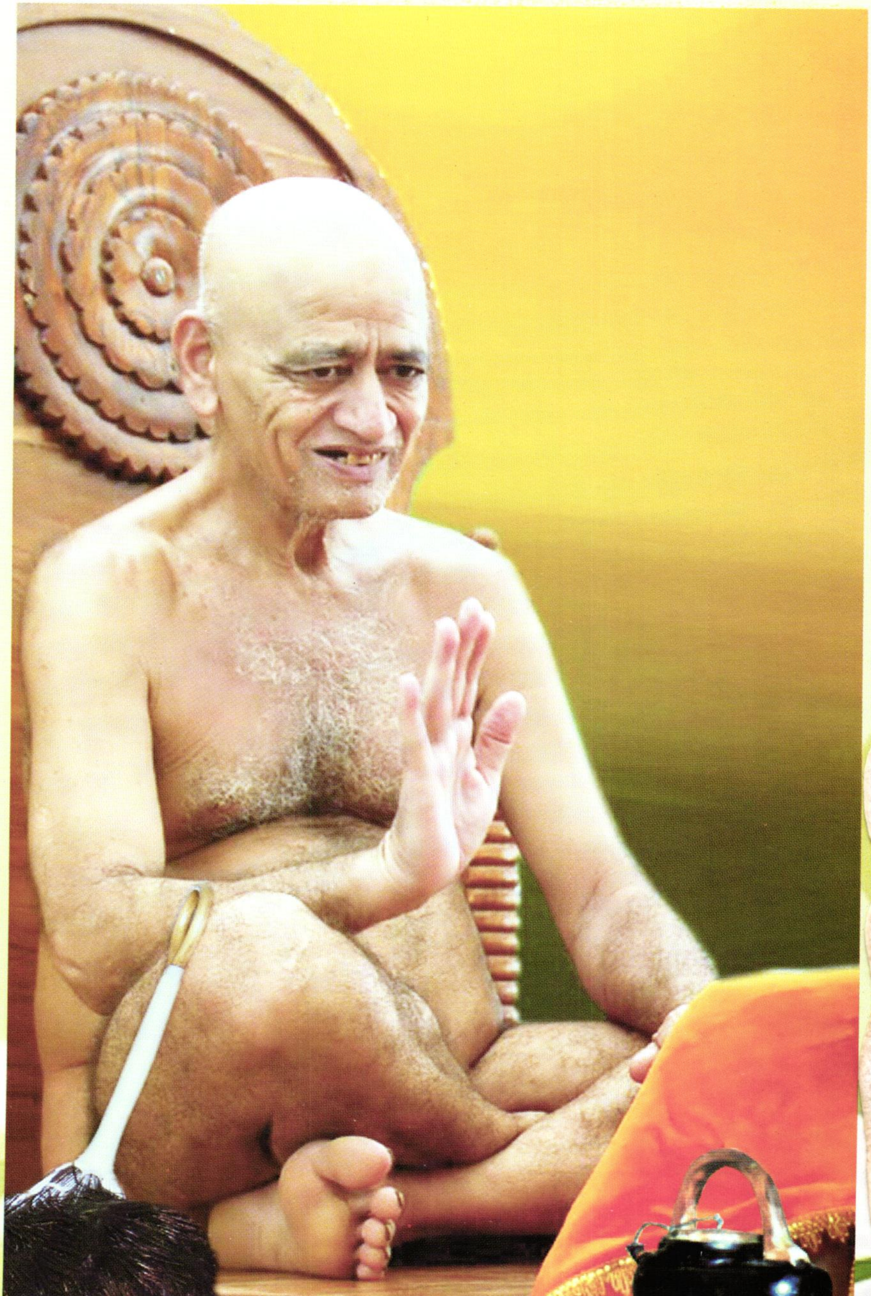

आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज

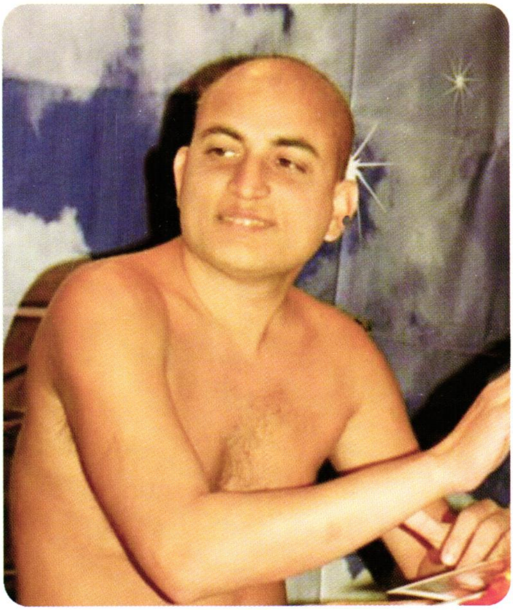

मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज

पूर्व नाम	:	ब्र. सर्वेश जी
पिता-माता	:	श्री वीरेन्द्र कुमार जैन - श्रीमती सरितादेवी जैन
जन्म	:	13.09.1975 भाद्रपद शुक्ल अष्टमी भोगाँव, जिला-मैनपुरी (उ.प्र.)
वर्तमान में	:	सिरसागंज (फिरोजाबाद) (उ.प्र.)
शिक्षा	:	बी.एस.सी. (अंग्रेजी माध्यम)
गृहत्याग	:	09.08.1994
क्षु. दीक्षा	:	09.08.1997, नेमावर
ऐलक दीक्षा	:	05.01.1998, नेमावर
मुनि दीक्षा	:	11.02.1998, माघसुदी 15, बुधवार, मुक्तागिरिजी
दीक्षा गुरु	:	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

मुनि श्री प्रणम्यसागर जी द्वारा साहित्य सृजन

संस्कृत भाषा में टीका ग्रन्थ -

1. लिङ्गपाहुड़ (नन्दिनी टीका)
2. शील पाहुड़ (नन्दिनी टीका)
3. समाधि तन्त्र (आर्हतभाष्य)
4. चैतन्य चन्द्रोदय (चन्द्रिका टीका)
5. बारसाणुवेक्खा (कादम्बिनी टीका)
6. आत्मानुशासन (स्वस्ति टीका)
7. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (मंगला टीका)
8. प्रश्नोत्तर रत्नमालिका ('नीति-पथ')
9. तत्त्वार्थ सूत्र (तत्त्व संदीपिनी टीका)
10. संस्कृत एवं प्राकृत भक्ति (आठ भक्तियों की टीका)

हिन्दी में अनुवादित ग्रन्थ -

1. सत्कर्म पंजिका
2. दश भक्ति टीका
3. प्रवचनसार (सरोज भास्कर टीका)
4. कथा कोश
5. सत्य शासन परीक्षा
6. युक्त्यनुशासन
7. नाममाला (भाष्य)
8. सत्संख्यादि अनुयोगद्वार
9. पात्रकेसरी स्तोत्र
10. अद्याष्टक स्तोत्र
11. संन्यास एषोस्तु किमात्मघात:
12. चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तुति (आ. माघनन्दि)
13. नियमसार
14. समयसार

पद्यानुवाद

1. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
2. प्रश्नोत्तर रत्नमालिका
3. तत्त्वार्थ सूत्र
4. पात्र केसरी स्तोत्र
5. कल्याणमन्दिर स्तोत्र
6. श्री वर्धमान स्तोत्र
7. मंगलाष्टक
8. माघनन्दि कृत अभिषेक पाठ

अंग्रजी भाषा में

1. Fact of Fate (articles)
2. Twelve Comtemplation
3. I Love my Soul

संस्कृत भाषा में मौलिक काव्य ग्रन्थ -

1. स्तुति पथ (इस कृति में निम्नलिखित स्तुतियाँ हैं)

   1. प्रार्थना 2. वीराष्टकम् 3. भरताष्टकम् 4. शारदाष्टकम् 5. कुन्दकुन्दाष्टकम् 6. समन्तभद्राष्टकम् 7. शान्त्यष्टकम् 8. ज्ञानाष्टकम् 9. विद्याष्टकम् 10. मौनाष्टकम् 11. निजबोधाष्टकम् 12. आचार्य श्री ज्ञानसागर प्रशस्ति पत्र 13. आचार्य श्री विद्यासागर पूजन
2. श्रायस पथ
3. सिद्धोदयाष्टकम्
4. श्री वर्धमान स्तोत्र।

प्राकृत भाषा में मौलिक ग्रन्थ -

1. तित्थयर भावणा (सोलहकारण भावनाओं पर प्राकृत गाथाएँ)
2. दार्शनिक प्रतिक्रमण

अन्य मौलिक कृतियाँ

1. युगद्रष्टा (भगवान ऋषभदेव पर उपन्यास)
2. जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य
3. खोजो मत पाओ (लाइफ मैनेजमेन्ट)
4. आलेख पथ (20 सैद्धान्तिक आलेख)
5. समयसार का ज्ञानी आत्मा कौन?
6. अन्तर्गूंज (भजन एवं हाइकू)
7. लहर पर लहर (कविता संग्रह)
8. बेटा! (शिक्षाप्रद सूक्तियाँ)
9. छहढाला
10. लक्ष्य (जीवंधर चरित्र)

संकलन

1. संवाद (आचार्य श्री और बाबा रामदेव की चर्चा)
2. A Talk (संवाद का अंग्रेजी अनुवाद)
3. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय अनुशीलन